जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १६ किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्
प्रोफेसर ज्योति प्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०, डी० एल०
श्री पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न

जैन सिद्धान्त-भवन आरा द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) एक प्रति का १॥)

विषय सूची

—चक्रनेमि

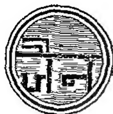




योगेश्वर शिव

शिवजी की यह मूर्ति इन्दौर संग्रहालय में सुरक्षित है। यह प्रायः दिगम्बर जैन मूर्तियों जैसी है; केवल सफाई अधिक है।

श्रीजिनाय नमः



सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १९ } दिसम्बर १९५२। माघ, वीर नि० सं० २४७९ { किरण २

ऋषभदेव और शिवजी

[ले०—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन एम० आर ए एस०, डी० एल०]

'इत्थं प्रभाव ऋषभोऽवतार शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवम कथितस्तवन ॥४७॥

—शिवपुराण

'शिवपुराण' के रचयिता कहते हैं कि इस प्रकार ऋषभावतार होगा, जो मेरे लिये शंकर (शिव) हैं। वह सत्पुरुषों के लिये सत्पथ पर नवमें अवतार और दीनबन्धु होंगे।' इस उल्लेख से स्पष्ट है कि शिवजी का अलंकृत रूप मूलतः ऋषभदेवजी के तेज और तपस्या का काव्यमयी वर्णन है। वैदिक ऋषियों ने ऋषभदेव की उग्र तपस्या को मूर्तमयी बनाने के लिए एवं उसे ही अमृतत्व पाने का कारण जताने के लिए उसे 'शिव' के नाम से पुकारा है। वेदों में 'शिव' नाम के देवता का पता नहीं। यह अभाव इसीलिये कि ऋषभ अवैदिक श्रमण परम्परा के अग्रणी थे। जब वैदिक आर्यों ने श्रमणोपासक जातियों से मेलजोल पैदा किया तब वैदिक परम्परा में नये नये देवता भी लिये गये। शिव, ब्रह्मा और विष्णु प्रतीकवाद के द्योतक हैं। उपरान्त क्षत्रियों के प्रभाव में अवतारवाद को वैदिक पुरोहितों ने अपनाया, जिससे राम और कृष्ण की पूजा प्रचलित हुई। प्रतीकवाद में ऋषभ को शिव का रूप दिया गया। यहाँ हमें यही देखना अभीष्ट है।

भ० ऋषभ ने कैलाश पर्वत पर उग्र तप तपा था। एक बार देवबालाओं ने उनकी तपस्या भङ्ग करने के लिये कामदेव के बाणों का प्रयोग किया था किन्तु ऋषभदेव अचल रहे और अन्त में उन्होंने काम को ही नष्ट कर दिया। उसके साथ ही मन वचन काय दण्ड द्वारा उन्होंने त्रिग्रन्थियों का पूर्ण नाश कर दिया कि वह 'निर्ग्रन्थ' हो गये। पूर्वसंचित कर्म जो शेष

रहे थे, उनको भी उन्होंने भस्म कर दिया था। परिणामस्वरूप वह वलरानि, वेंसच्चिदानन्द, जीवन्मुक्त परमात्मा शिव होकर चमके। उन्होंने धर्मतीर्थ की स्थापना की—इसलिये 'वृष' (बैल) उनका चिन्ह माना गया। संक्षेप में ऋषभदेव जी की तपस्या की यह तालिका है।

अब पाठक, आइये शिवजी के चरित्र चित्रण पर दृष्टिपात कीजिये। वह देव हैं—आप्त हैं और हैं पूज्य। अतः उनके चरित्र में ऐसी बात तो नहीं आ सकती जिसे साधारणत मानव समाज में दुराचार माना जाता है। शिव देव हैं—आराध्य हैं, तो वह एक सामान्यलम्पटी पुरुष की तरह कामी नहीं हो सकते; इतने उग्र कामरत कि उनके शिश्न की उत्तेजना को शान्त रखने के लिये पूर्ण कुम्भ से शीतल जलबिन्दु हर समय टपकती रहे! इसके साथ कोई भी समझदार पुरुष यह नहीं मान सकता कि शिव मत्रपेयी और भगड़ी थे। वह इतने क्रोधी थे कि उन्होंने भस्मासुर को नगरों सहित भस्म कर दिया और पार्वती जी को संग लिये फिरे! न वह इतने भयकर थे कि विष खा जाते! उनके देवत्व के समक्ष ये बातें अशोभन दिखती हैं। फिर एक अचम्भे की बात है कि रेणुका मरकर जीवित हुई भी उनके प्रसंग में कही गयी है! इस बुद्धिवादी युग में अन्धश्रद्धा के लिए कोई स्थान नहीं है। अतएव शिवजी के विषय में उक्त बातें जो कही गयी हैं उनको शब्दार्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता। उनसे शिवजीकी महत्ता में बट्टा आता है। वे अलंकार हैं और अलंकार का घूँघट उठाकर हमें उनके मूलस्वरूप का दर्शन करना उचित है।

लगभग दो हजार वर्ष पहले का लिखा हुआ एक पत्रक (Letter of Aristeas) विद्वानों को मिला है। उसमें लिखा है प्राचीनकाल में एक चित्रशैली (Symbolic) की भाषा और लिपि (Pictographic language and Script) का प्रचलन था। विद्वान् ऋषि लोग उस शैली का आश्रय लेकर अध्यात्मवाद का निरूपण किया करते थे, जिसे वह अपने शिष्यों को बता देते थे। गुरु-शिष्य-परम्परा से यह रहस्यवाद मौखिक—प्रणाली द्वारा धारावाही चलता रहा! किन्तु एक समय आया जब इस रहस्य को लोग भूल गये। 'अनर्थकाहि मन्त्र'' की बात वैदिक टीकाकारों को बरबस कहनी पड़ी! बाइबिल में विद्वानों को इसीलिए धिक्कारा गया कि उन्होंने 'ज्ञान की कुँजी' को खो दिया। (Woe into ye lawyers Ye have lost the 'Key of knowledge !') इस साक्षी से शिवजी का अलंकृतरूप स्पष्ट भासता है और 'शिवपुराण' के रचयिता उन्हें ऋषभावतार कहते हैं! वह इसीलिये कि ऋषभ आदिकाल से एक महान् तपस्वी रहे और वैदिक ऋषियों को उनकी तपस्या का बखान अलकृत भाषा में करना अभीष्ट रहा! किन्तु उनके इस रहस्यपूर्ण स्वरूप को जाननेवाले लोगों का अभाव एक बहुत पहले जमाने से हो गया। महाकवि कालिदासजी इस सत्य से परिचित थे। इसलिये ही उन्होंने कहा कि 'शिवको यथार्थरूप से जाननेवाले और अनुभव करनेवाले

मनुष्य कम हैं।[1] (न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः।—कुमारसम्भव ५। ७७) प्रतीकवाद का समझ लेना हरएक का काम नहीं। प्रतीक अथवा अलंकार का सहारा इसलिए लिया गया प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक सत्य की ओर हर किसी की रुचि नहीं होती। वैदिक क्रियाकाण्ड में पहुंचे लोगों में जिनको पात्र पाया उन्हीं को यह रहस्य बताया गया।

जैन शास्त्रकारों ने स्पष्ट लिखा है कि ऋषभदेव ने कैलाश पर्वत पर घोर तपस्या की थी। जिस समय वह तपस्यारत हो आत्मध्यान में मग्न थे उस समय सुराङ्गनाओं ने उनके शील की परीक्षा ली थी परन्तु ऋषभ तो वासना को जीत चुके थे और समाधि में लीन थे। कामदेव के वेग उन्हें उस समाधि से च्युत न कर सके—उल्टे उन्हें शरीर मन्दिर में स्थित परमात्मतत्त्व के दर्शन कराने में वह साधक बने। वैदिक परम्परा में स्पष्ट कहा गया है कि शिवजी ने कामदेव को भस्म कर दिया था। पार्वती ने जब रतिसहाय मनोभव को नष्ट हुए देखा तो उन्होंने माना कि शिव को पाने के लिए सुन्दरता पर्याप्त नहीं है। अतएव उन्होंने तप करना और समाधि लगाना निश्चित किया क्योंकि समाधि की पूर्णता ही शिवतत्त्व का लाभ कराती है।[2] डा. वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने पार्वती को प्रतीक मानकर उसके रहस्य का स्पष्टीकरण किया है।[3] उन्होंने लिखा कि मानव शरीर में मेरुदण्ड की रचना तेंतीस पर्वों के संयोग से हुई है। 'पर्व' जिसमें हों उसीको 'पर्वत' कहते हैं। 'पर्वाणि सन्ति अस्मिन्निति पर्वतः।' इसलिये मेरुदण्ड पर्वत हुआ और इसके भीतर रहनेवाली शक्ति को उपचार से 'पर्वतराजपुत्री' या 'पार्वती' कहा जाता है। इस पार्वती की स्वाभाविक गति शिव की ओर है। पार्वती शिवको छोड़कर और किसी का वरण कर ही नहीं सकती। परन्तु पार्वती को शिव की सम्प्राप्ति तपके द्वारा ही हो सकती है, भाग के भाग से नहीं। अर्थात् छद्मस्थावस्था में जब 'शिवत्व' पाने के लिये उन्मुख थे उस समय कायगुप्ति की साधना के लिये उन्होंने तप का आश्रय लिया था। कायगुप्ति का पालन करके काम-विजयी कामजयी को जानकर उन्होंने पार्वतीय (मेरुदण्ड में सुप्त) शक्ति का जागरण किया

1 'चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभिर्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥१५॥

—भक्तामरस्तोत्र

२ 'तथा समक्षं दहता मनोभवं, पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती, प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथाद्वयं, तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥'

३ डा. सा. ने कल्याण में शिवका स्वरूप शापक लेख प्रकट करके शिव प्रतीक का रहस्य प्रगट किया है। उनके इस लेख के आधार से ही यह विवेचन किया जा रहा है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

था। इसीलिये अलंकृत भाषा में कहा जाता है कि शिव पार्वती का विवाह हुआ था! वस्तुत वह उक्त प्रकार का एक रहस्यपूर्ण प्रतीक ही है!

शिव का मुख्य कर्म संहार माना है। निस्सन्देह सांसारिक प्रवृत्ति का संहार किये बिन निवृत्ति मार्ग का पर्यटक नहीं बनाया जा सकता। ऋषभदेव ने प्रवृत्ति का मार्ग त्यागा था और योगचर्या को अपनाया था। कर्म-प्रकृतियों का सम्पूर्ण संहार करके ही वह शिवत्व को प्राप्त हु थे। इसलिये उन्हें शिव कहना ठीक है।

शिवलिङ्ग पूजा का अर्थ अध्यात्मरूप में अमृतत्व को पा लेना है; किन्तु आज कोई भी तो इस गूढार्थ को नहीं समझता—विषयी लोग उसमें वासना की छाया देखते हैं। वस्तुतः वह अमृत आनन्द का बोधक है। प्राचीन भारतीय मान्यता में मस्तिष्क को कलश या कुम्भ कहा गया है। मस्तिष्क से निरन्तर अमृत का क्षरण होता रहता है, जिसे योगीजन पीकर अध्यात्मिकता में निमग्न हो जाते हैं और विषयी पुरुष वासना में फँसकर उसका दुरुपयोग कर डालते हैं। इस उल्लेख से ब्रह्मचर्यमय योगनिष्ठा की पुष्टि होती है। ऋषभ पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर अमृतत्व को पान करके ही शिवस्वरूप बने थे। रेणु-वीर्य के दुर्व्यवस्थित होनेपर उसको ब्रह्मचर्य द्वारा ही ऊर्जस्वित करके जीवित बना दिया जाता है। ऋषभ अनन्तवीर्य के भोक्ता इसी प्रकार हुए थे। रेणुका के पुनर्जीवन पाने का रहस्य यही है।

शिव के विषपानका रहस्य भी ऋषभ की योगचर्या में छिपा हुआ है। निघण्टु में जलके १०१ नाम दिये गये है। उनमें विष और अमृत भी जलके पर्यायवाची शब्द हैं एव वीर्य या रेत भी जलका ही रूप है। अतः वीर्य से दैवी और आसुरी अर्थात् अमृत रूप और विषरूप शक्ति प्रकट होती है। आत्मविनाश की प्रवृत्ति आसुरी शक्ति विषरूप की द्योतक है। शिवने उसे जीत लिया था। पुण्य और पाप रति और अरति—सब पर ऋषभ ने विजय पायी थी। अतः शिवका विषपान प्रसंग उनकी समवृत्ति का द्योतक है, जिसमें आसुरी वृत्ति पछाड़ दी गयी थी।

भस्मासुर के त्रिपुर शरीर के बाहर नहीं थे। वह मानव की मन-वचन-कायिक योगक्रियाएँ थीं, जिनपर अधिकार पाये बिना कोई भी योगी जीवन्मुक्त परमात्म दशाको नहीं पा सकता। ऋषभदेव ने मनदंड, वचनदंड और कायदंड द्वारा इन त्रिपुरियों को जीत लिया था—उनकी अधोवृत्ति को नष्ट कर दिया था। इसीलिये उन्हे शिव कहकर याद किया गया है।

ऋषभ की तरह ही शिव दिगम्बर कहे गये हैं। शिव त्रिशूलधारी थे। भारतीय पुरातत्त्व में त्रिशूल चिन्ह का प्रयोग पहले पहले जैनों ने किया था[1]। ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दि के हाथी

१ श्री रविषेणाचार्य ने जिनेन्द्र के लिए लिखा था कि शुद्धलेश्यारूपी त्रिशूल से मोहरिपु को नष्ट कर दिया है। ('शुद्धलेश्यात्रिशूलेन मोहनीयरिपुर्हतः।')

गुफालेख में यह मिलता है और कुषाणकालीन जिनमूर्तियों के शासन में त्रिशूलपर ही धर्मचक्र का चिन्हाङ्कण किया गया है[1]। अतः त्रिशूल—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म का प्रतीक है, जिसके द्वारा संसार जाल को छेद दिया जाता है। शिवके रूप में सर्प का प्रयोग मिलता है। जैन परम्परा में सर्प का विशिष्ट स्थान है। प्राचीन काल में कुछ लोग उसे ज्ञान का प्रतीक मानते थे, जो अज्ञान के लिए कालरूप था। ऋषभदेव अनन्त ज्ञान के नेता थे जिसके फलस्वरूप ज्ञानगंगा प्रवाहित हुई थी। शिवजी की जटा में गंगा का वास माना ही जाता है। ऋषभमूर्तियों की यह एक विलक्षणता है कि उनके कंधों पर जटायें उत्कीर्ण की जाती है। शिववाहन वृष (बैल) ही ऋषभ का भी चिन्ह है। इस प्रकार शिवपुराण' के उक्त श्लोक में जो ऋषभ को शिव कहकर उल्लेखित किया है, वह सार्थक है। भारतीय परम्परा में यह विश्वास एक समय प्रचलित रहा प्रतीत होता है कि ऋषभ ही शिव हैं क्योंकि साहित्य के साथ साथ शिवकी ऐसी मूर्तियाँ भी बनाई गयीं, जो बिल्कुल ऋषभमूर्ति से मिलती जुलती हैं। इंदौर संग्रहालय में इस प्रकार की एक मूर्ति है। उसका चित्र यहाँ मध्यभारत पुरातत्व विभाग के सौजन्य से उपस्थित किया जाता है। पाठक उसे देखकर यह भ्रम न करें कि वह जैन मूर्ति है। यह शिव की मूर्ति है परन्तु उसका परिवेश जिनमूर्ति के अनुरूप है। यह होना कुछ विचित्र नहीं क्योंकि ऋषभ को ही ब्राह्मणों ने शिव और जैनों ने पहला तीर्थङ्कर माना था।

[1] "बंगाल बिहार ओड़ीसा के जैनस्मारक और 'श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ" (पृष्ठ २२७-२२६) में देखें।

जैनागम और स्थापत्य

[लेखक—श्रीयुत डा० मोतीचन्द्र, एम० ए०, पीच० डी०
Prince of Wales Meseum, Bombay]

भारतीय शिल्पकला-प्रधानतः धार्मिक शिल्पकला मे देश विदेश के विद्वान् बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। भारतीय शिल्पकला में बहुत बडे-बडे और भव्य स्मारक जो देश के विभिन्न भागों में आज भी मन्दिर, स्तूप, तोरण के रूप में खड़े हैं तथा मुगलकाल के राजप्रासाद, किला और मसजिदे आदि प्राचीन शिल्पकलाओं का विदेशीय विद्वानों द्वारा अनुसन्धान हुआ है। पर अभाग्यवश भारतीय विद्वानो का ध्यान इस तरफ कम गया है। कुछ विदेशी विद्वानों ने परिश्रम से इस कार्य को सफलतापूर्वक किया है। इसका कारण कहीं दूर ढूढना नहीं है। पहला कारण तो यह है कि धार्मिक स्मारक आज भी मौजूद खडे मिलते हैं और हमारे विशेष निरीक्षण, जॉच पडताल के लिए सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं, साथ-साथ प्राचीन काल के राजभवन तथा अन्य प्रकार के भवनों के चिन्ह भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे धार्मिक ग्रन्थ या इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थों में भी विभिन्न कालों के स्थापत्य पर काफी प्रकाश डाला गया है। पर अभाग्यवश हमारे देश मे वैज्ञानिक आविष्कार के कार्य तथा खुदाई विशेषरूप से नहीं हुई है। तक्षशिला आदि स्थानो की जो थोडी बहुत खुदाई हुई है, वह प्राचीन काल के शिल्प विद्या के ज्ञान के लिये पर्याप्त नहीं है। सामग्रियो का यह अभाव सॉची, अमरावती और मथुरा आदि शहरों का जो वर्णन प्राचीन धर्मग्रन्थों में मिलता है उससे बहुत दूरतक पूरा किया जा सकता है।

डा०[1] कुमार स्वामी ने उपर्युक्त दोनों प्रकार के विषयों पर विस्तृत और गंभीर अध्ययन किया है। उनके अध्ययन और खोज से—प्रधानतः बौद्ध ग्रन्थो के अध्ययन से हमें प्राचीन भारतीय राजभवनों, किला, बगीचा आदि का स्पष्ट चित्र दृष्टिगोचर होने लगता है। उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों से ऐसे बहुत से शब्दो को ढूढ निकाला है, जो भारतीय शिल्प विद्या के पूर्णज्ञान में बडे सहायक सिद्ध हुए हैं। इस लेख में डा० कुमार स्वामी ने जैन ग्रन्थों का व्यवहार नहीं किया है, क्योंकि इधर थोड़े दिनों से वे ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, जैनागम-ग्रन्थ जिनमें सूत्र, भाष्य, चूर्णिका, टीका आदि जो संस्कृत भाषा में अंकित हैं, उनसे हमे प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता का पर्याप्त ज्ञान होता है। इसमें सन्देह नहीं कि जैन ग्रन्थ प्राकृत भाषा में होने और अच्छी तरह से सम्पादित न होने के कारण हमारे मार्ग में बडी-बड़ी कठिनाइयॉ आ जाती हैं। पर इन अभावों के वर्त्तमान मे रहने पर भी यह निःसकोच कहा जा सकता है कि जैन साहित्य

---

1 Early Indian Architecture Eastern Art 1930 31

में ऐसे ऐसे भाण्डार भरे पड़े हैं जो किसी अन्य साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। और प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के लिये सर्वोत्तम साधन हैं। गृह निर्माण कला और शिल्पकला का विस्तृत वर्णन जो हमें जैन साहित्य में मिलता है, उससे हमें प्राचीन नगरों, गाँवों, राजभवनों, मन्दिरों तथा किलों के निर्माण का विशेष ज्ञान होता है। जैन साहित्य केवल निर्माण कला के टेकनिक (विधान) पर ही नहीं बल्कि उन दिनों की सजावट बनावट आदि बातों पर बहुत बारिकी से प्रकाश डालता है। जब जैन साहित्य की अन्य साहित्यों से तुलना करते हैं तो देखते हैं कि जैन साहित्यकारों ने जिस ढंग से तत्कालीन सजावट, बनावट, गृह निर्माण कला का विस्तृत और विश्वसनीय वर्णन किया है वह अन्यत्र नहीं मिलता। साहित्यकारों के इस प्रकार धैय, अनुशीलन और परिशीलन को देखकर दंग रह जाना पड़ता है। जैन आगम ग्रन्थों में तो शिल्पकला पर प्रकाश मिलता ही है, पर राजप्रश्नीय सूत्र और बृहत्कल्प सूत्र भाष्य में धार्मिक और नागरिक दोनों प्रकार की शिल्पकला का वर्णन सबसे अधिक मिलता है। बृहत्कल्प सूत्र में ठीक ठीक और सुन्दर ढंग से शिल्पकला का वर्णन दिया गया है, पर राजप्रश्नीय में देव नगरों के वर्णन में अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। लेकिन इन अतिशयोक्तियों के वर्तमान रहते हुए भी यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ अद्वितीय है और इससे प्राचीन काल के भारतीय शिल्पकला के इतिहास पर विशेष प्रकाश मिलता है। इसके वर्णनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसके लेखक ने विस्तृत और पूर्ण रूप से तत्कालीन शिल्पकला का अध्ययन किया है। जिसके प्रमाण स्वरूप मथुरा का जैनस्तूप है, जिसका अवशेष डा० फुहरेर (Fuhrer) ने अभी हाल ही में प्राप्त किया है।

भवन निर्माण की प्रारम्भिक बातें

बृहत्[1] कल्प सूत्र भाष्य से हमें पता चलता है कि पहले भूमि की परीक्षा होती थी। (समभूमि विरेचन) फिर सर्वे करने वाला (अक्षर लिखित) जमीन की पैमाइश करता और फिर भवन की दिशा निर्धारित करता था, तब इसके बाद नींव पड़ती थी। (खातम् खननम्) फिर पिलपाये की की कुरसी ईंटों द्वारा बनायी जाती थी। अन्त में भवन निर्माण का कार्य आरम्भ किया जाता था।

एक साधारण मकान के लिये एक धरण या बड़ेरी (प्रियावमसा) दो कोरी या चार मुलावेलिट (लाठ) की आवश्यकता होती थी। इसके अतिरिक्त बांस चटाइया, लकड़ी के तख्ते (उकाचन) छावनी, लेवन (Plasting) होने के बाद जमीन समतल बनायी जाती थी।

जब[2] भवन बनकर तैयार हो जाता था, तब चूना फेरना (दुमिय) फिर धम करके सुगन्धित (धुविय) और (वासिय) किया जाता था। इसके बाद प्रकाशित (उज्जोविय) किया जाता था।

1 Brihat Kalp Sutra Bhasya by muni Punya Vijay Patan 1933 1938 1 332 333 to be referred in future as B K S B

2 Lb 582 583

गांव[1] भी भिन्न प्रकार के होते थे (क) उत्तान मल्लकाकार (Open boul) (ख) अवाङ्मुख (Unverted) (ग) खण्ड (Broken boul) (घ) सम्पुटक (Box or hemispherical) खण्ड भी कई भागों में विभाजित रहता था। इसके भाग निम्नलिखित हैं। उत्तान आखण्ड मल्ल समन्वित (Open broken boul) भीत्ति समन्वित, अवाङ्मुख, सम्पुटक, पदालिका (Avenue) वल्लभी (Turret) अक्षवाट (Wrestling ground) तथा स्वक और काश्यप यह एक भिन्न प्रकार का मकान था जिसके चारों तरफ चबूतरा है और उत्तर तरफ से बन्द रहता है।

उत्तान[2] मल्लकाकार (Open boul) गाव गोलाकार बना होता था, जिसके केन्द्र में एक कुआ रहता था। अवाङ्मुख (Inverted) के मध्य में एक मन्दिर या वट वृक्ष होता था। सम्पुटक गांव के मध्य में मन्दिर के अतिरिक्त एक कुआ भी रहता था और खण्ड गांव के अगल बगल कुआं और बहुत से वृक्ष होते थे। भीत्ति समन्वित गांव में एक समानान्तर में पूर्व दिशा में पेड़ लगे रहते थे। पदालिका (Avenue) गाव में सभी पेड़ सुन्दर ढंग और एक सिलसिले से लगाये जाते थे। वल्लभी (Turret) गाव में गाव के चारों तरफ चारों कोनों पर बहुत लम्बे लम्बे पेड़ लगाये रहते थे। इसी प्रकार से शेष गांवों में किसी न किसी प्रकार के विशेष चिह्न पाये जाते थे।

वृहत्कल्पसूत्र भाष्य में भी कुछ दूसरे प्रकार के गाव का वर्णन मिलता है। 'खेत' ग्राम चारों ओर से मिट्टी की दीवाल से घिरा होता था। धूलिवाकार भी इसी प्रकार[3] का होता था। मडम्ब ऐसा गाव होता था जिसके २½ गव्यूति या ७ कोस (१४ मील) में कोई दूसरा गाव नहीं होता था। इस चौदह मील के अन्दर दूसरे गाव का चारागाह भी नहीं रहता था। आकर गाव में खनिज द्रव्य पाये जाते थे। 'घोष[4]' गाँव चरवाहों या गड़ेरियों के गाँव को कहा जाता था। अमधिका गाँव के आधे या तृतीय भाग को कहा जाता था।

जैन साहित्य से भी भारतीय गाँवों का बहुत कुछ वर्णन प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ गाँव के प्रधान अधिकारी को ग्राम समक्षान कहा जाता था। वहाँ सीमा, सिरता और सुमीरा की स्थापना एक सिलसिला से रहती थी। इसके अतिरिक्त ग्राम की रक्षा के लिये बड़े बड़े द्वार, फाटक बने रहते थे। नगर भी बना रहता था। नगर का पूरा वर्णन नहीं मिलता पर मालूम होता है कि ये भी बड़े बड़े फाटक से होते थे[5]। गाँव बड़े बड़े तालाबों और खाइयों से घिरे हुए होते थे, जिनमें सदा कमल के फूल खिले रहते थे। बहुत पता के सामने सुन्दर द्वार

1 Ib 1103
2 Ib 1104 1105 1106
3 BKSB 1089
4 BKSB 1174
5 BKSB 3446

फुलवारी लगी रहती थी। गाँव के चारो ओर घने बाँस भी लगाये रहते थे, जो प्राकृतिक शोभा और रक्षा दोनों के लिये लाभप्रद होते थे[1]। गाँवों में पानीशाला, भण्डशाला जहाँ कुम्हार घड़े आदि बेचते थे, अलग बने रहते थे। कुम्भशाला में वे वर्त्तन बनाते थे और पचनशाला में वर्त्तन पकाये जाते थे। अतिथिशाला (guest house) आगमनगृह जहाँ यात्री ठहरते थे। आचाराग से पता चलता है कि सभा और प्रपा नामके दो स्थान भी गाँव में बने रहते थे। जहाँ गाँव के लोग आराम और मनोरंजन के लिए इकट्ठे होते थे। इसको मनोरंजन गृह भी कहा जाता था।

गाँवों[2] में अन्न जमा करने के लिये भी स्थान बने रहते थे। सबसे सुन्दर और सहज तरीका था कि एक ऊँचे चबूतरे पर पुआल और बाँस की सहायता से एक गोल घेरा बना दिया जाता था और फिर मिट्टी और गोबर से लीप-पोत दिया जाता था। इसमें अन्न सुरक्षित रहता था। इसके अतिरिक्त अन्न रखने के लिये कटुहशालाएँ, अवपूरक तथा कोपथक जिसको हिन्दी में कोठिला और कोथरा कहते हैं, ईंट और मिट्टी की सहायता से बने रहते थे। वर्षाऋतु मे बाँस से बने हुए 'मानका' जो ऊँचे ऊँचे खम्भो के सहारे कुछ ऊँचाई पर बने होते थे, उसीमें अन्न रखा जाता था। अन्न बडे बडे घड़ों में भी, जिसे कुम्भी कहा जाता था, रखा जाता था। इस प्रकार से ग्राम की बहुत सी वस्तुओं का वर्णन हमें प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यों के वासस्थानो, शहरों, नगरों का भी वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। नगर अठारह प्रकार के करों से वञ्चित रहता था। 'करवत' एक शहर का छोटा रूप समझा जाता था। 'निगम' नामक स्थान में केवल व्यापारी रहते थे। 'जलपट्टन' जहाँ बोटों या नावों द्वारा सामान लाकर रखा जाता था। 'स्थलपट्टन' जहाँ बैलगाड़ियों द्वारा सामान लाकर इकट्ठा किया जाता था। 'द्रोणमुख' जहाँ स्थल और जल दोनों से सामान लाकर रखा जाता था। इसी प्रकार एक 'पत्रभेदन' नामक स्थान रहता था, जहाँ सभी ओर से सामान मंगाकर रखा जाता था और फिर वही से छोटे-छोटे व्यापारियों में सामान का वितरण किया जाता था। 'राजधानी' में राजा रहता था।

उपर्युक्त 'निगम' के भी दो भाग होते थे। एक 'साग्राहिक' जहा बैंक और Whole sale वाले रहते थे और दूसरा 'असाग्राहिक' यहा बैंक के अतिरिक्त दूसरे दूसरे भी कारोबार होते थे।

पहली खाई में पानी, उसके बाद की खाई में कीचड और तीसरी खाई सूखी रह जाती थी। नगर की दीवार एक ऊँचे चबूतरे से आरम्भ की जाती थी। दीवाल ईंट की बनी होती थी, पर कहीं कही लकड़ी भी व्यवहार में लायी जाती थी। प्रधान फाटक पर दो बडे बड़े गुम्बज

1 BKSB III P. 611.
2 BKSB IV 3298, 3299, 1089

बने रहते थे। प्रत्येक फाटक पर भी अन्दर जाने के लिये प्रवेश द्वार पर पुन बना रहता था। यों तो गुम्बज दीवाल पर एक सिलसिले से बने रहते थे, पर प्रधान फाटक के गुम्बजों में सीढ़ियाँ लगी रहती थीं जिनसे होकर गुम्बज या दीवाल पर कोई जा सकता था। गुम्बज आगे निकले हुए भाग को युक्त करते थे। चहारदिवारी में छोटे छोटे छिद्र होते थे। ये छिद्र प्रधानत दो काम में आते थे, एक तो रोशनी करने के लिये और दूसरे शत्रुओं पर गोलियों की बौछार करने के लिये। छिद्रों के ऊपरी भाग में जगह जगह पर कोठरियाँ बनी रहती थीं, जिनको अट्टालिका या उत्तमागार कहते थे। उनके सिरे पर घट या कलश रखे रहते थे। फाटक मजबूत लकड़ी का बना रहता था। जिसे कपाट कहा जाता था। कपाट को मजबूती से लोहे द्वारा बाँधा जाता था। कपाट का ऊपरी भाग धनुषाकार बना रहता था और नीचे चौखूटा होता था।

जैनागम में भी ठीक इसी प्रकार से गृह निर्माण या पुर निमाण का वर्णन मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों की अपेक्षा जैन ग्रन्थों में किसी किसी का वर्णन बहुत विस्ताररूप में मिलता है। नगर और ग्रामों का वर्णन औपपातिकसूत्र में हर स्थान पर मिलता है। आचारांग, बृहत्कल्पसूत्र राजप्रश्नीय और णायधम्म में भी स्थापत्यकला का बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है।

औपपातिक सूत्र द्वारा पता चलता है कि शहर या नगर के चारों ओर की खाइयाँ ऊपर चौड़ी और नीचे पतली होती थीं। इनकी गहराई बहुत हुआ करती थी। इसके अतिरिक्त इसमें भी नगर में प्रवेश करने के लिये पथ बने रहते थे।

जैन[1] साहित्य में आये हुए भवन निर्माण कला सम्बन्धी उद्धरणों के साथ साथ बौद्ध ग्रन्थों में भी आये हुए भारतीय नगरों का वर्णन भी किया जाय तो यह विषय बहुत अच्छी तरह समझ में आ सकता है और दोनों की तुलना करने में भी सहायता मिलेगी।

नगर या पुर सबसे बड़े निर्माण कर्ता द्वारा बनाये जाते थे (Master Architect) जिसको नगर वर्द्धिकी कहा जाता था। वह अनेक वड्ढइया बवइयों (राज) द्वारा सहायता लेता था। नगर में परिखा, चहारदिवारी (प्रकार) फाटक, द्वार, कोठा और रक्षा के लिये ऊँचे स्थान (चार अट्टालक) बने रहते थे। रक्षा की दीवाल के अतिरिक्त ऐसे ऐसे स्थानों का भी निर्माण होता था जिनमें किसी प्रकार का अभाव न हो। इसके बाद राजभवन बना रहता था, फिर इसके अतिरिक्त मन्दिर, अन्न रखने की जगह (कोष्ठ), बड़े बड़े हाल, खेलने की रङ्गभूमि (किलशाला या क्रिड मण्डल) विश्राम गृह पनशाला, दानशाला, हाथीशाला, दुकान (आपान) बाजार (अन्तरापन) तथा पानागार (सैलून), ओरनीय बुचड़खाना (slaughter house) बने रहते थे। फाटक या प्रधान द्वार पर बाग-बगीचे, फुलवारी, कमल से भरे हुए तालाब, स्नान करने के तालाब और उत्तम उत्तम पेड़ पौधे लगे रहते थे। नगर में एक प्रधान सड़क

1 Dr Coomar Swami Early Indian Architecture 209 FF Eastern Art 1930 PP

कहा जाता था। राज गर्भ (Kings chamber) कुटागार, सिं० पंजर, चन्द्रशाला आदि नाम थे। प्रत्येक गर्भ में जाने के लिये सोपान बने होते थे उनके भी नाम भिन्न भिन्न होते थे। धुरा सोपान सोपान सीता, सोपान कलिंगर आदि। नीचे की छतों में सुन्दर सुन्दर कपड़े लगे रहते थे, जिन्हें चेल वितान कहा जाता था। प्रधान राजभवन सुगन्धित रखा जाता था। जगह जगह पर सुन्दर सुन्दर पुष्प मालाएँ लटकायी रहती थीं। राजभवन के भी अगल बगल में भिन्न भिन्न नामों से अनेक कोठरियाँ बनी रहती थीं। कुमार स्वामी सभी भागों की परिभाषा सहित नाम देते हुए इस धारणा पर पहुँचते हैं कि कुटागार और उत्तमागार जिन पर गुम्बज बने रहते थे, सर्वोत्तम समझे जाते थे। चन्द्रशाला तो एक साधारण भवन समझा जाता था। कनिका की छत लम्बाई चौड़ाई लिए हुए और कुटागार का गोल होता था। अलिन्द और कुटागार कनिका के बाहर बने रहते थे, जिनमें बड़े बड़े खम्भे लगे रहते थे और यहाँतक साधारण जनता का भी प्रवेश था। खिड़कियाँ भी भिन्न भिन्न प्रकार की भिन्न भिन्न नामों से पुकारी जाती थी। गवाक्ष, तामीज, केकुदु और मधुरा तथा आगरा के गोल के समान होता था। सिंहपंजर भी एक प्रकार की खिड़की ही होती थी, जो प्रान्त की खिड़कियों से मिलती जुलती है।

हमलोग ऊपर देख चुके हैं कि बौद्ध ग्रन्थों में भिन्न भिन्न प्रकार के भवनों के निर्माण तथा नामों का वर्णन आये हैं। जैनागम में भी इसी प्रकार के पूर्ण विवरण हमें मिलते हैं। इसके अतिरिक्त जैन ग्रन्थों में बहुत नवीन नवीन नाम भी दिये गये हैं। राजभवन[1] के मकानों को जिन्हें जैन ग्रन्थों में प्रासाद कहा गया है, क्षत्रिय राजकुमारों के लिये भिन्न भिन्न नामों से बने रहते थे। जिनमें वद्धमान, गिहानी, वल्लग, परियाणी, गुम्बज, मध्य भवन आदि नाम मुक्त माने गये हैं, प्रासाद[2] केवल राजभवनों को ही कहा जाता था। कहीं कहीं समीक्षक इसको दो तल्लेवाले मकान के ऊपरी भाग को भी कहते हैं।

इसमें स्पष्ट और सुन्दर ढंग से राजभवनों का वर्णन नायधम्म कहाओ में मिलता है। पर नाम भिन्न भिन्न मिलते हैं। चकथा (बाहर का चबूतरा) बड़े ही सुन्दर पत्थरों से बना रहता था। लल (अत्यन्त सुन्दर) मण्ड (सुन्दरता से पालिश किया हुआ और साहित्य (उत्तम स्थान पर बने हुए) चबूतरों का अलग नाम दिया गया है। इन राजभवनों की खिड़कियों (गवाक्षों) के नाम भी भिन्न भिन्न हैं। (Pigeon hole) कपोत पाली भी बने रहते थे। नालियाँ (निरपुरकवार) आदि सबके अलग अलग नाम थे।

(१) उत्तराध्यायन IX 28 (२) आचारांगसूत्र II 2, 9

(२) नायधम्म कहा, १, १, १, २३

(2) Raya PP 76 f f

कर्मों का रासायनिक सम्मिश्रण

[लेखक–श्रीयुत प्रो० अनन्त प्रसाद जैन B Sc (Engineering)]

भगवान महावीर ने मानवता को कौनसी नयी बात बतलायी। जिसके बिना सारा ज्ञान अधूरा था–इस पर प्राय लोगों का ध्यान कम जाता है। जैन धर्म के प्रचारक भी केवल उन्हीं विशेषताओं का वर्णन करते रह जाते हैं जो प्राय भारत के सभी अच्छे तर्क–न्याय संयुक्त धर्मों या धर्म सिद्धान्तों में हीनाधिक सन्निहित हैं। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह इत्यादि तो सभी धर्मों के व्यावहारिक आदर्श हैं। यदि जैन गुरुओं ने इन्हें थोड़ा और अधिक या विशेष महत्व दे दिया तो मैं तो इसे नयापन नहीं समझता। "अनेकान्त" या "स्याद्वाद" जैन दर्शन (Jain philosophy) की एक सबसे बड़ी विशेषता अवश्य है और कई हजार वर्षों के बाद भी इसमें अब भी वही नयापन है जो उस समय था। जब भगवान महावीर ने इस पर प्रकाश डाला था और उनके बाद में परम्परागत गुरुओं एवं विद्वानों ने इसकी विशिष्ट रूप से विशद विवेचना की। परन्तु "स्याद्वाद" या "अनेकान्तवाद" तो ज्ञानरूपी महासागर को मथने के लिए एक साधन, यन्त्र या मथानी मात्र ही है। जैसे महाभारत की कथाओं में "देवताओं" ने और "राक्षसों" ने मिलकर महासागर को मथने के बाद चौदह रत्न पाए, उसी तरह ज्ञान महासागर को "स्याद्वाद" रूपी इस महान् मथानी से मथने से कितने अपूर्व रत्न निकले! जिनपर पूर्ण व्यावहारिक प्रकाश या जिनकी अनन्य उपादेयता का मान वर्तमान समय में बहुत कम रह गया है। अजैन विद्वानों को कौन कहे जैन सिद्धान्त के बड़े बड़े पंडित और विद्वान् भी जो जैन सिद्धान्त के सुनिश्चित अधिकारी समझे जाते हैं और जिन्होंने बड़े बड़े गूढ़ शास्त्रों की टीकाएँ की हैं, वे भी या तो इससे अनभिज्ञ रह हैं या उन्होंने भी इधर ध्यान कम दिया है। सच पूछिए तो "स्याद्वाद" या "अनेकान्त" है क्या चीज और इसका मूल लाभ या आवश्यकता या काम क्या है यही अभी बहुत कम लोग ग्रहण कर पाते हैं। स्वभावतया विद्वत्ता के बल पर लोग टीकाएं बना देते और विवेचनात्मक टिप्पणियां या आलोचना प्रत्यालोचना वगैरह लिख देते और पाण्डित्य पूर्ण व्याख्यान भी दे डालते हैं पर विषय के मूल तक विरले ही पहुँच पाते हैं। इसके अतिरिक्त भी "स्याद्वाद" साधारण जन की वस्तु न होकर विद्वानों की निधि बनकर ही रह गया, जिसने समझा उसने लाभ उठाया जिसने नहीं समझा वह वंचित रह गया। जैन धर्म का उत्थान इसकी जानकारी के बढ़ने से हुआ और पतन इसकी समझदारी के अभाव होने से होता गया। आज भी ज्ञान का इतना विकास हो जाने पर भी हालत व्यावहारिक रूप से कुछ सुधरी नहीं है। बहुत कम लोग मिलेंगे जो इसकी व्यावहारिक महत्ता का सच्चा ज्ञान या मान रखते हों। स्याद्वाद को जैनियों ने शास्त्रचर्चा या उच्च दर्शन सिद्धान्तों तक ही सीमित कर

दिया और यह केवल पुस्तकों का विषय होकर रह गया और सर्व साधारण के नित्य नैमित्तिक सांसारिक एवं सामाजिक उपयोग से दूर होते होते एक विचित्रता या विशेषता (Speciality) बनकर केवल विशेष अवसरों पर ही व्यवहृत होने वाली वार्ता या चीज में परिणत हो गया है, जिससे लोक कल्याण का मूल स्रोत न होकर केवल वाद विवाद का शृंगार मात्र रह गया।

स्याद्वाद की महत्ता का गुणगान तो सभी जगह सभी शास्त्र या पंडित करते हैं पर वे गुणगान करके ही संतुष्ट हो जाते हैं, संसार के सामने आधुनिक रूप में कुछ ऐसा प्रभाव नहीं रखते कि दूसरे भी इसकी व्यावहारिक उपयोगिता और नित्य नैमित्तिक कार्यों (Every day life & living) में सक्रिय रूप से लाभ लेना जान जायें। इतना ही नहीं इस "मथानी" द्वारा ज्ञान सागर से जो रत्न निकले वे शास्त्रों में तो विशद रूप से वर्णित हैं पर उनका प्रतिपादन प्राचीन पद्धति से किया गया है। उन्हें वर्तमान संसार में पूर्ण रूप से प्रकाशित करने के लिए आधुनिक ढंग तरीकों और वर्तमान भौतिक विज्ञान के आधार पर व्याख्या, समन्वय एवं प्ररूपण या प्रतिपादन करने की परम आवश्यकता है। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद किसी भी प्रश्न या वस्तु को अनेक रूप से, हर दृष्टि कोण से, हर पहलू से देखते हुए एवं संबन्धित सभी बातों का ऊहापोह, सभी शंकाओं का समाधान और द्वन्दों का निराकरण करते हुए, गुत्थियों को सुलझाते हुए एक ऐसे अंतिम समन्वयात्मक निर्णय पर पहुँचाता है जो पुनः दूसरे प्रश्नों या विषयों या वस्तुओं के विवेचनात्मक विश्लेषण, विवक्षा या समीकरण में सर्वदा युक्तियुक्त, ठीक और विभेद रहित पाया जाता है। किसी वस्तु की "अनेकान्तात्मक" या स्याद्वाद की प्रणाली से जाच करने से ही उसके सच्चे मूल रूप को जानना या असल तत्त्व तक पहुँचना संभव हो सकता है। जैसे किसी ने एक मिट्टी का घड़ा देखा और जानना चाहा कि वह क्या वस्तु है—इधर उधर पूछ ताछ की और तर्क करना आरम्भ किया। यों तो सांसारिक या व्यावहारिक जानकारी के लिए केवल इतना मात्र जानना ही काफी है कि यह एक मिट्टी का पकाया घड़ा है, जिसमें जल रखा जाता है। पर विशिष्ट जानकारी के लिए और अधिक ऊहापोह करने के लिए स्याद्वाद पद्धति में प्रश्नों की सात शृंखला बना दी गई है, उन्हीं के अन्तर्गत सारे प्रश्न सन्निहित हो जाते हैं। इसीसे इसको 'सप्तभंगी" भी कहते हैं, आत्मा का शुद्ध विस्तृत पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो केवल मात्र स्याद्वाद की प्रणाली, पद्धति या मार्ग ही ऐसा है जिससे सच्ची और पूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकती है। जैन दर्शन ने इसी मार्ग को अपनाया और इस कारण आत्मा और दूसरे द्रव्यों या तत्वों का मूल रूप सही सही, विभेद रहित, यथार्थ पाने और प्रतिपादन करने में समर्थ हुआ।

स्याद्वाद क्या है और किसी प्रश्न का समाधान इसकी सहायता से कैसे किया जाता है, इसका वर्णन मुझे यहाँ नहीं करना है। यहाँ तो मुझे यह बतलाना है कि इस

स्याद्वाद की मथानी द्वारा ज्ञान सागर का मथने से जो रत्न निकले वे रत्न कौन हैं और उनका आधुनिक वैज्ञानिक निरूपण कैसे किया जाय—भगवान महावीर ने या जैन दर्शन ने संसार को जो सबसे बड़ी निधि दी वे यही रत्न हैं—पर धर्मान्धता, धर्मद्वेष, कट्टरता और ज्ञान या शिक्षा की कमी तथा स्वार्थादि के वशीभूत लोगों ने इनकी कद्र कम की या इनकी महत्ता को पूरा समझ या जान नहीं सके अथवा जानबूझ कर पर्दा डालते रहे। इन रत्नों के बिना संसार का सारा बाकी ज्ञान अधूरा ही रह जाता है। मनुष्य संसार की बहुत सी बातों और विषयों की जानकारी तो रखे पर स्वयं अपने बारे में या अपने चारों तरफ जो कुछ है और उनसे उसका क्या सम्बन्ध है—यदि इन विषयों की जानकारी न रखे तो उसका सारा ज्ञान अधूरा, ऊपरी और खोखला रह जाता है। आज संसार में यही बात हो रही है। भौतिक विज्ञान का विकास इतना अधिक हो गया कि लोग इसके करिश्मे देखदेख कर चकित रह जाते हैं और आगे आगे इसका विकास और जोरों में होता जा रहा है, पर चूंकि आत्मज्ञान की भारी कमी अभी भी सभी जगह है, इसलिए यह भौतिक ज्ञान जहाँ एक तरफ निर्माण करता है वहीं दूसरी तरफ विनाश का भयानक भय या कारण भी उपस्थित करता और बढ़ाता जाता है। यह भय केवल भगवान महावीर द्वारा निरूपित एवं निर्दिष्ट उन रत्नों की जानकारी द्वारा ही निर्मूल हो सकता है जो स्याद्वाद रूपी मथानी द्वारा ज्ञानमहासागर को मथने से मिले और जिनका प्रकाश आजकल बहुत कम रह गया है। संसार का सारा रगड़ा झगड़ा, रक्तपात आपसी मनोमालिन्य, घृणा एवं वैमनस्य का मूल कारण सच्चे या विशुद्ध ज्ञान का अभाव ही है। विभिन्न धर्मों और दर्शनों ने अपनी अपनी अलग अलग एक दूसरे की विरोधी पद्धतियाँ निकाल निकाल कर बड़ा गड़बड़ झाला मचा रखा है। ऐसे गड़बड़झाले में बड़े बड़े विद्वान् चक्कर खा जाते हैं तो साधारण मानव का कहना ही क्या। जबतक शुद्ध ज्ञान का विकास संसार में व्यापक रूप से नहीं होगा, स्थायी शांति का होना कठिन ही नहीं असम्भव है। इस शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिए जैन दर्शन में वर्णित कर्मसिद्धान्त का मनन और अनुशीलन करना आवश्यक है। इसी सिद्धान्त में उन रत्नों के विशुद्ध रूप का दर्शन प्राप्त होगा जिनके बिना सारा ज्ञान अधूरा रह जाता है। वे रत्न हैं जैन दर्शन में वर्णित षट् द्रव्य (छः द्रव्य,) और सप्त तत्त्व। षट् द्रव्य हैं —

जीव (आत्मा, Soul), अजीव (पुद्गल, Matter), धर्म (ether), अधर्म (counter ether), आकाश (Space) और काल (time) सप्त तत्त्व हैं जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर निर्जरा और मोक्ष। पहले षट् द्रव्य तो यह बतलाते हैं कि विश्व में मूल द्रव्य वस्तु कौन कौन हैं जिनसे इस विश्व की रचना हुई है और पिछले सप्त तत्त्व यह बतलाते हैं कि आत्मा या मनुष्य का उसके चारों तरफ की वस्तुओं से क्या सम्बन्ध है एवं आत्मा (Soul)

और पुद्गल (Matter) मिलकर मानव कैसे बनता है या कैसे बना है और उसके कार्य व्यवहार क्यों और कैसे सचालित होते रहते हैं तथा इन सबका अतिम ध्येय क्या है।

मानव क्या है? कैसे बना है? कैसे क्या करता है? मानव जन्म का ध्येय क्या है? ये या ऐसे सभी प्रश्नों का शुद्ध समाधानात्मक उत्तर इन द्रव्यों और तत्त्वों के यथार्थ—शंकारहित ज्ञान (जानकारी) द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। ससार के अधिकाश लोग इन बातों को नहीं जानते इसलिए वे जो कुछ इस विषय में कहते हैं वह अधूरा, अपूर्ण, अशुद्ध या गलत या आधा सच्चा होता है। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की महत्ता मूलतः क्यों और कैसे है यह तो केवल इन द्रव्यों और तत्वों की जानकारी द्वारा ही मालूम हो सकती है। यों अहिंसा और सत्य इत्यादि का केवल गुणगान करने से लोग भले ही व्यक्तित्व के प्रभाव में आकर या युगों से इन बातों के कहे जाते रहने के कारण या दूसरे कटु अनुभवों के डर से या कानून और सामाजिक नियमों एव पाबन्दियों के बन्धन में भले ही इन्हें स्वीकार किये रहें और आचरण में भी लाते रहे पर वह न स्थायी है न सुदृढरूप से स्थापित ही। वह तो अहिंसा और सत्य का पालन अवश्य क्यों करना चाहिए इसके वैज्ञानिक मूल कारणों के विश्लेषणात्मक (analytical) रूप से स्पष्टीकरण द्वारा ही सभव है। पहले का मानव चुपचाप कोई बात या सिद्धान्त बिना पूछताछ किए, बिना शका उठाए मान लेता था पर अब तो आधुनिक भौतिक विज्ञान के विकास ने और शिक्षा की वृद्धि ने एक तर्क-बुद्धि-सत्य का युग बना दिया है, जिसमें सब कुछ जाँच पड़ताल कर ही स्वीकृत की जाने की रीति बढती जाती है। यही ठीक भी है। आँख मूँदकर धर्मांधतापूर्वक कुछ मानकर वर्तते रहना हानिकारक है। आज धार्मिक द्वेष विद्वेष भेदभाव और विभिन्नताएँ, व्यक्तियों एव देशों में द्वेष विद्वेष, रगडे झगडे, विरोध और एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार तथा युद्ध इत्यादि केवल इसी कारण रह गये हैं या होते हैं क्योंकि लोगों ने धर्म का अर्थ ठीक नहीं समझा और उसका भी मूल कारण है "वस्तुओं" अथवा "तत्वों" या "द्रव्यों" के शुद्ध रूप की जानकारी या ज्ञान का अभाव। अनादि काल से अबतक जो भयकर युद्ध, रक्तपात और लूटपाट इत्यादि होते रहे है उनका मूल कारण इन "तत्वों" या 'पदार्थों'' के विज्ञान की भारी कमी ही रही है और है। भगवान् महावीर ने इस ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि की थी तो उनके बाद कई सौ वर्षों तक इस देश मे एकता और शान्ति का बहुत बड़ा विस्तार रहा।

मनुष्य कर्म क्यों करता है, कैसे करता है और उनके फल उसे कैसे मिलते हैं? इन प्रश्नों का पूर्ण समाधानात्मक उत्तर केवल सप्ततत्वों जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष की जानकारी (सैद्धान्तिक ग्रन्थों से) ही मिल सकता है, अन्यथा नहीं[१]।

१ कर्मों के सम्बन्ध तथा विश्व के परिवर्तनों को अवगत करने के लिए देखे—(१) "जीवन और

जैन दर्शन में जीव (आत्मा Soul) और अजीव (पुद्गल Matter) ये ही दो मुख्य तत्त्व माने गए हैं। जीव 'चेतना' युक्त है और पुद्गल "जड़"। जीव और पुद्गल अनादि काल से साथ साथ चले आते हैं। किसी जीव धारी में चेतना आत्मा के कारण है और कार्य क्षमता या कार्य शीलता पुद्गल निर्मित रूपी शरीर के कारण। जीव अकेला कुछ नहीं कर सकता है। पौद्गलिक शरीर भी जीव की चेतना बिना चेतना युक्त कोई कार्य नहीं कर सकता। संसार या विश्व में हम जो कुछ भी देखते हैं इन्हीं दोनों (जीव और पुद्गल) की रचनाएं हैं। जीव (आत्मा) शुद्ध, अशरीरी, अरूपी है जबकि पुद्गल रूपी, शरीरी वस्तु है। जीव को हम देख नहीं सकते पर पुद्गल के रूप हम देखते हैं। मनुष्य का शरीर भी पुद्गल निर्मित ही है।

जैन दर्शन का "पुद्गल" ठीक वही चीज है जिसे हम परमाणु कहते हैं और आधुनिक विज्ञान जिसे इलेक्ट्रन प्रोटन, न्यट्रन पोजीट्रन इत्यादि (Electric particles) कहता है। इन पद्गलों (पुद्गल परमाणुओं) के मिलने से "एटम" अथवा अणु बनते हैं और पुन अणुओं के मिलने से 'मौली क्यूल" या "वर्गणा" का निर्माण होता है। मानव या किसी भी जीवधारी का शरीर या किसी भी जड़ वस्तु का रूप आकार या शरीर इन पुद्गल वर्गणाओं की ही रचना है। ये वर्गणाएं अनन्त प्रकार की भिन्न गुण और प्रकृति वाले अणुओं और परमाणुओं के मिश्रण और बन्ध की विभिन्नतानुसार होती हैं। मौली क्यूलों या वर्गणाओं और एटमों या अणुओं के अन्दर पुद्गलों या परमाणुओं का सतत प्रवाह या एक दूसरे में अदला बदली होती रहती है। यह पुद्गल-परमाणुओं का प्रवाह धारा या किरणों (Rays & Waves) के रूप में किसी भी तरह इन पुद्गलनिर्मित रूपी शरीरों या वस्तुओं से बगैर किसी व्यवधान के बराबर बाहर भी निकलती ही रहती है, ये धाराएँ या किरणें वस्तु के हर तरफ तेजी से प्रवाहित होती और फैलती हैं और अपने मार्ग में आने वाली हर दूसरी वस्तु या शरीर पर भी अपनी हीनाधिक प्रभावकारी शक्ति के अनुसार कार्य करती रहती हैं किसी जीवधारी के शरीर या किसी वस्तुके हिलने डुलने और चलने फिरने से भी परमाणुओं का प्रवाह विभिन्न रूपों और संगठनों में निकलता रहता है। मानव के शारीरिक क्रियाकलाप के अलावे मानसिक हलचलों द्वारा भी इस तरह की धाराएँ मानव शरीर से निकलती हैं और बाहर से आनेवाली धाराएं भी शरीर के आन्तरिक पौद्गलिक अथवा वर्गणात्मक निर्माण में अपना असर और प्रभाव करके तब्दीलियां या परिवर्तन (Changes) पैदा करती हैं। ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र पृथ्वी, सूर्यादि भी विभिन्न गतियों और कम्पन प्रकम्पनों के कारण इस तरह की पुद्गल निर्मित धारा और किरणें प्रसारित करते हैं जिनका असर हर ग्रह उपग्रह इत्यादि पर

विश्व के परिवर्तनों का रहस्य" सम्पादक "अनेकान्त", अहिंसा मंदिर, १, दरियागंज, देहली (२) "विश्व एकता और शान्ति" (३) शरीर का रूप और कर्म, (४) 'Soul, Consciousness, Life' (५) The Three Jewels'

और उनपर अवस्थित किसी वस्तु या जीवधारी पर अनुरूप असर पड़ता है। इस तरह सभी जगह सभी समय सभी वस्तुओं में सतत निराबाध परिवर्तन होता रहता है।

मनुष्य जो कुछ भोजन पान करता है अथवा श्वास निश्वास लेता छोड़ता है। अथवा जो कुछ देखता सुनता है वह सब कुछ पुद्गल निर्मित ही होता है। हवा और प्रकाश (रोशनी-Light) भी पुद्गल की ही रचनाएं हैं। तस्वीर, फोटो या रूप आकृतियों का बनना या भान होना भी पुद्गल की धाराओं के कारण ही है। हमारे शरीर में और हमारे हर तरफ पुद्गल भरा हुआ है। हम जो कुछ भी शारीरिक या मानसिक कर्म करते हैं उसके द्वारा बाहरी वायुमंडल या ईथर (Ether अथवा धर्म द्रव्य) से भरे हुए आकाश (Space) में हलचल पैदा होती है और हर मानव से पैदा हुई पौद्गलिक धारा या हलचल हर दूसरे मानव के ऊपर अपना प्रभाव या असर हीनाधिक डालती है। इस तरह हमारे अपने भोजन पान, कर्म, गति और मनोविचारों का असर या प्रभाव हमारे शरीर का निर्माण करने वाली पुद्गल वर्गणाओं की रचना में परिवर्तन तो लाता ही है दूसरे व्यक्तियों के कर्मो और विचारों का भी असर इन परिवर्तनों को परिवर्तित करने में पड़ता रहता है।

जैन दर्शन में मानव शरीर को निर्माण करने वाली वर्गणाओं को प्रधानतः तीन भागों में विभक्त किया गया है—१ औदारिक वर्गणा—यह रक्त मांस मय वह बाहरी शरीर है जिसे हम देखते हैं इसीमें मन, हृदय और मस्तिष्क भी होते हैं। २—तैजस वर्गणा—यह शरीर है जो पारदर्शक और शुद्ध हीरे के समान प्रकाश युक्त है इसे हम नहीं देख सकते। ३—कार्माण वर्गणा—यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं द्वारा निर्मित सुदृढ़ बंधमय (Compounded) वह अदृश्य (Invisible) शरीर है जो हमारे अपने कर्मानुसार हमारी आत्मा के साथ बराबर लगा रहता है और एक जन्म से दूसरे जन्म या योनि में आत्मा को ले जाने का कारण भी यही है और हर योनि में सर्वदा साथ रहता है जब तक मुक्ति या मोक्ष न मिल जाय। इन तीन वर्गणात्मक शरीरों में भी सर्वदा, सतत निर्बाध परिवर्तन होता ही रहता है। परिवर्तन कभी भी एक क्षण या क्षण के शतांश, सहस्रांश या लक्षांश में भी नहीं रुकता, न बंद होता है। विश्व की सारी वस्तुओं की गतियां और हलन चलन तथा कम्पन प्रकम्पन होते ही रहते हैं और इनके कारण उनसे पौद्गलिक धाराएँ निकलती ही रहती हैं जो इन गतियों को भी गतिशील रखती हैं और हर शरीर या वस्तु से निकलने वाले पौद्गलिक प्रवाह को भी सतत जारी रखती हैं, जिनका असर या प्रभाव एक दूसरे पर पड़कर क्रिया प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन होते ही रहते हैं और होते ही रहेंगे। इस तरह विश्व में जो कुछ भी उत्पादन, सृष्टि, विनाश, या परिवर्तन होता हुआ हम पाते हैं वह सब कुछ स्वयं इन पुद्गलों के आदान प्रदान द्वारा वर्गणात्मक निर्माण में हेर फेर लाकर अपने आप ही स्वभाववश होता रहता है। न कोई बाहरी शक्ति सृष्टि करती है न विनाश,

विनाश और सृष्टि का अर्थ है किसी वस्तु का आकार बदलकर उसको निर्माण करनेवाली वर्गणाओं में रासायनिक परिवर्तन होकर एक नई वस्तु या रूप का बन जाना, विश्व में जितनी संख्या पुद्गलों की है उतनी ही बराबर से है और रहेगी न नये का निर्माण हो सकता है न पुराने का विनाश—केवल उनके संगठनों में परिवर्तन होते रहते हैं। इन पुद्गलों की संख्या अनन्तानन्त अथवा अगणित, असीम और अनन्त है। इसी तरह आत्माओं की संख्या भी अगणित, असीम और अनन्त है और इनकी भी जो संख्या पहले थी या अब है वही रहेगी, बराबर से थी और बनी रहेगी—न घटेगी न बढ़ेगी—न नये का निर्माण होगा, और न आगे उसका विनाश।

आत्मा और पुद्गल दोनों के मिलने से ही मनुष्य या किसी भी जीवधारी का निर्माण हुआ है। आत्मा का स्वभाव है "चेतन" और सदा विकास करना (इवोल्यूशन evolution) पुद्गल अचेतन या जड़ है। शरीर पुद्गल का रूपी शरीर के आधार से आत्मा स्वयं कुछ नहीं कर सकता है और पुद्गल के रूपी शरीर में मानव या किसी भी जीवधारी के कर्मों का प्रभाव हर समय परिवर्तन लाता रहता है। ये परिवर्तन औदारिक, तैजस और कार्माण—तीनों शरीरों में ही होता रहता है और सब एक दूसरे के अनुरूप कारण और फल (Cause and effect) की तरह एक दूसरे से आवश्यकता से सम्बन्धित एवं गुण गुणी की तरह एक दूसरे में सन्निहित और मिले हुए तथा एक दूसरे के बराबर ही आकार प्रकार में हैं।

मनुष्य जो भी कर्म करता है वह कर्माण शरीर का निर्माण करनेवाली वर्गणाओं के सक्रिय प्रभाव से प्रचालित होकर ही करता है। परिस्थितियों और चहुँ ओर के वातावरण का भी असर पड़ता है पर वह बाहरी असर भी आन्तरिक वर्गणाओं में रासायनिक सम्मिश्रण और क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन होने से ही होता है। न जाने किस अनादि काल से अबतक इकट्ठी हुई कितनी वर्गणा विशेष का पुंजीभूत रूप समन्वयात्मक आन्तरिक प्रभाव या प्रेरणा जो बाहर से आने और शरीर के अन्दर घुसकर आन्तरिक वर्गणाओं के साथ मिल विक्षुब्ध कर क्रिया प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होती है, इनके द्वारा मानसिक और शारीरिक हलन चलन परिचालित कराकर मानव से कोई विचार या कर्म कराता है। अनादि काल से इस क्षण तक "कर्मों"[१] (कर्माण शरीर को निर्माण करनेवाली पुद्गल वर्गणाओं) का आदान प्रदान—परिवर्तन होना चला आता है। अब से एक क्षण पहले किया हुआ शारीरिक कर्म या मानसिक कर्म (भाव या विचार) भी अपना प्रभाव अगले होनेवाले कर्म के निर्माण में कमवेश छोड़ते जाते हैं। जैसे बिजली, प्रकाश

१ यहाँ कर्म शब्द का अर्थ है कार्माण शरीर का निर्माण करने वाली पुद्गल वर्गणाएं। साधारणतः कर्म का मतलब है शारीरिक या मानसिक कार्य अथवा प्रसंगानुसार जहाँ कोई दूसरा अर्थ हो जैसे—भाग्य।

(light) अथवा शब्द (Sound) में रेजोनेन्स (सहमानवृद्धि) होती है वैसे ही "कर्मों" के भी रेजोनेन्स (resonance) एवं तारतम्यताएँ होती हैं। ऐसे विभिन्न "कर्म" (पुद्गल वर्गणाएं) जो रासायनिक क्रिया प्रक्रिया द्वारा मिलकर एक हो सकते हैं वे बाहर से आनेवाली वर्गणाओं और अन्दर की वर्गणाओं में शारीरिक या मानसिक हलचल द्वारा उथल पुथल होते रहने के कारण (उनके) पारस्परिक सम्मिलन अथवा क्रिया-प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न प्रभाव से जो नये कर्म कराते हैं, उनकी तीव्रता या मंदता उनके रासायनिक मिश्रण की तेजी और मन्दी पर ही निर्भर करती है। अथवा दो समान "कर्म" एक दूसरे की काल परिवर्तन (frequency) की समानता के कारण एक दूसरे से संयुक्त होकर अपना प्रभाव या असर कई गुना बढ़ा देते हैं। मानव में यह रेजोनेन्स उस समय पैदा हो सकता है जब उसके मानसिक और शारीरिक कार्य समान हों अथवा किसी समय जैसा वह मानसिक विचार करता हो या शारीरिक कार्य करता हो उसी समय बाहर से आनेवाली वर्गणाओं की रचना भी समानता लिए हुए हो तो विचार या कार्य में अधिक तीव्रता आ जायगी। "कर्मों" की स्थिति अथवा उनके फलीभूत होने का समय एवं परिमाण भी उनके आपसी रासायनिक सम्मिश्रण की कमीवेशी और दूसरे ब्योरों (details) पर ही निर्भर करते हैं। बाहर से आनेवाले "कर्म" [कर्म पुद्गल, या कर्माणु या कर्म वर्गणाएँ—या कार्माण शरीर का निर्माण करनेवाली वर्गणाएँ—अथवा वे पुद्गल वर्गणाएँ जो मनुष्य के कर्मों या कामों को कराने में प्रेरक रूप या शरीर रूपी यन्त्र के संचालन में किसी बैटरी (Cell or Battery) में रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न विद्युत की तरह किसी बिजली के यन्त्रों को चलाने में शक्ति रूप या कारण रूप हैं भीतर के "कर्मों" से मिलकर "एकमेक" न हो जायँ इसके लिए अपनी भावनाओं और शारीरिक कर्मों में परिवर्तन न लाकर या चेष्टापूर्वक एक ही तरह के भाव या कर्म करते हुए हम अपने आन्तरिक 'कर्मों" के निर्माण पर शासन (control) रखकर बाहर से आनेवाले "कर्मों" का भीतर के 'कर्मों" से मिलकर एकमेक हो जाने से रोक सकते हैं। "योग" या "तपस्या" में भी यही बात होती है। मानव का मन जब किसी एक विषय या कर्म या कार्य में एकाग्र हो तो उस समय दूसरा बाहरी कोई दृश्य या कार्य या कुछ भी उस पर पूरा असर नहीं कर।। यदि मनुष्य अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में एकाग्र ध्यान लगा ले तो उस समय बाहरी "कर्म" भी असर नहीं करते और आन्तरिक कर्म भी उदय तो होते हैं (उनकी रासायनिक क्रिया प्रक्रिया तो चलती ही रहती है), पर उनका असर या फल स्थायी नहीं होता या अनुभूत नहीं होता इसके अतिरिक्त भी आत्मा का शुभ्र, शुद्ध, निर्मल स्फटिक या हीरे के समान सारे अंग में व्याप्तरूप में ध्यान लगाने से अंतर् में "कर्मों" में रासायनिक मिश्रण होते समय उनमें परिवर्तन होकर भी शुभ्र वर्गणाएँ ही बनती जाती हैं। इत्यादि।

जैन दर्शन में 'कर्मों' की विवेचना के प्रकरण में आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का विशद वर्णन किया है। आस्रव का अर्थ है बाहर से आनेवाली पुद्गल वर्गणाएँ, जो हमारे शरीर में प्रवेश करती रहती हैं जब हम कुछ देखते हैं, सुनते हैं, पढ़ते हैं, दवा द्वारा, इंजेक्शन द्वारा, अथवा प्रकाश किरणों द्वारा या रेडियो और कौस्मिक किरणों और धाराओं द्वारा अथवा दूसरे व्यक्तियों के शरीरों से निकलनेवाली पुद्गल वर्गणाओं द्वारा जो उन व्यक्तियों के भावों और कर्मों के अनुसार उनके शरीरों से निकलती ही रहती हैं अथवा मंत्रों इत्यादि से या ऐसी धाराओं द्वारा अथवा और किसी भी तरह, बंध का अर्थ है जब ये बाहर से आनेवाली पुद्गल वर्गणाओं की धाराएँ किसी मानव के मन और शरीर के भाव अथवा काय द्वारा उत्पन्न होनेवाली अन्तर् की वर्गणाओं से मिलकर रासायनिक सम्मिश्रण (chemical compound) बनकर कर्मों का रूप प्राप्त कर लेना।

संवर—का अर्थ है अपनी प्रवृत्तियों पर शासन (control) रखकर या किसी खास नियम या काम में एकाग्र होकर मन निश्चल और दृढ़ करके बाहर से आनेवाली वर्गणाओं का आंतरिक वर्गणाओं से सम्मिश्रण न होने देना।

निर्जरा—का अर्थ है जो कुछ 'कर्म' कुछ समय पहले या बहुत समय पहले या अनादि काल से बंध हो चुका है उनको शुक्ल ध्यान द्वारा विनाश करते जाना।

मोक्ष—का अर्थ है सभी 'कर्म बंधों' से पूर्ण छुटकारा पाकर बाहरी पुद्गलों से सम्बन्ध से छुटकारा पाकर और अपने शुद्ध रूप को पाकर परम विशुद्ध आत्मा या परमात्मा हो जाय—जब उसमें कर्म भोगना या आस्रव ही न होगा, विकार नहीं रहेंगे। विकार तो पुद्गल के संसर्ग से ही होते हैं।

इन विषयों पर जैन शास्त्रों में बहुत विस्तार के साथ विशद विवेचना की गई मिलेगी। मुझे यहाँ उन्हें पुनः दुहराना नहीं है—वे तो शास्त्रों में हैं ही। कोई भी जिज्ञासु उन्हें पढ़ और उनका अनुशीलन कर सकता है। मेरा ध्येय तो अन्य प्रकार के सिद्धान्तों, सिद्धान्तियों और दर्शनों के सिद्धान्तों (Philosophies) के मध्य इस विषय को आधुनिक रूप में रखकर अनुशीलन करने के लिए जनता के समक्ष उपस्थित करना है। इसी कमी के कारण विश्व के भौतिक विज्ञान की वृद्धि होते हुए भी वैज्ञानिक बहुत कुछ जानते हुए भी इस संबंध में ठीक-ठीक जानकारी नहीं रखते कि मनुष्य क्या है—मनुष्य क्यों बना है—मनुष्य कैसे बना है—मनुष्य कैसे कर्म करता है—इत्यादि। यह कमी केवल जैन दर्शन में वर्णित कर्म सिद्धान्त (Karma Philosophy) को जानने द्वारा ही दूर हो सकता है। अन्यत्र कहीं भी किसी भी दूसरे दर्शन या सिद्धान्त में इस विषय का ऐसा [illegible] इस वैज्ञानिक [illegible] रूप में [illegible] ऐसा है ही नहीं। [illegible] मैंने स्वयं 'विशुद्ध' [illegible] विचार [illegible]

या सिद्धान्त गढ़ लिए और जोरदार तर्कों द्वारा उन्हें ही ठीक साबित करके दूसरों से मनवा लिया। धर्मों की विभिन्नताओं और आपसी मतभेदों या विरोधों का प्रधान कारण यही है। दूसरों ने स्याद्वाद या अनेकान्त का व्यवहार नहीं किया जबकि जैन धर्म संस्थापकों ने इस अद्वितीय, अपूर्व और विलक्षण "मथनी" का प्रयोग करके ज्ञान महासागर का मथन करके इस सत्य दृष्टि या रत्न को प्राप्त किया और लोगों के सामने रखा। परन्तु धार्मिक द्वेष, प्रमाद, अहंकार इत्यादि ने लोगों को इस सत्य दृष्टि सुज्ञान और महान रत्न से वंचित रखा। नतीजा यह हुआ कि सारा संसार (कुछ इने गिने लोगों को छोड़कर) इस परम आवश्यक ज्ञान या जानकारी से परिचित नहीं होने के कारण अधूरे ज्ञान अथवा गलत ज्ञान को लिए हुए भटकता रहा और सारी अव्यवस्थाएँ और गड़बड़ियाँ इस तरह ही हर जगह हर समय होती रहीं। अब तो विज्ञान या तर्क सम्मत सत्य के प्रचार का युग है—और इस ज्ञान बिना सारा बाकी ज्ञान अधूरा होने से मनुष्य का पूरा या स्थायी कल्याण नहीं हो पाता। आवश्यकता यह है कि इस सच्चे ज्ञान का जो भगवान् महावीर द्वारा दिए गए इस महान रत्न का परिचय और विस्तार उपयुक्त प्रचार द्वारा संसार और मानवता के कल्याण के लिए ही व्यवहाररूप में किया जाय। इसके लिए पुरानी पद्धति में नये विचारों का और तरीकों का उपयुक्त रूप से समावेश करके उन्हें आजकल के प्रबुद्ध वैज्ञानिक समाज और काल के योग्य बनाया जाय, ताकि सब कोई इसे ठीक तरह तर्कयुक्त, बुद्धिगम्य, यथार्थ, और वैज्ञानिक समझ एवं पाकर स्वीकार कर सकें जिससे उन प्रश्नों का हल निकल सके जिन्हें संसार के वैज्ञानिक अबतक नहीं निकाल पाये हैं और इसीलिए रगड़े झगड़े, युद्ध, रक्तपात इत्यादि होते ही रहते हैं।

जो लोग आत्मा की अवस्थिति में विश्वास नहीं करते उनके लिए भी 'कर्मों' का इस तरह रासायनिक सम्मिश्रण होकर किसी जीवधारी से या मानव से कर्म कराने और फल देने का वैज्ञानिक विचार पूर्णरूप से स्वीकार करना आसान है और उनकी तथा संसार की भलाई और कल्याण का जनक है।

मनुष्य का सब कुछ इन पुद्गल वर्गणाओं द्वारा ही बनता बिगड़ता या परिवर्तन होता और संचालित होता रहता है। मनुष्य एक योनि से दूसरे योनि में अथवा शरीर छोड़कर मृत्यु होने पर दूसरा शरीर किस जगह, किस तरह, किस रूप का ग्रहण करता है और क्यों इसका मूल कारण कर्माणशरीर का निर्माण ही है, जो सर्वदा बदलता रहता है और मृत्यु समय जैसी उनकी प्रवृत्ति रहती है वैसा ही उनका रूप होकर वह वैसी ही योनि आदि में जन्म लेता है। मनुष्य का उत्थान पतन भी इन पुद्गल वर्गणाओं की रचना या संगठन के ऊपर ही निर्भर करता है। मानव का भाग्य भी इन संचित कर्म पुद्गलों द्वारा ही बनता है, इसीलिए भाग्य को कर्म भी कहते हैं। मानव के पहले किए हुए कर्म उसके अगले भाग्य का निर्माण करते हैं। अनादि काल से लेकर

अन्ततः एक साथ पहले किया हुआ कौन सा मानसिक और शारीरिक कर्म कब कैसा भाग्यफल उत्पन्न करेगा, कहना कठिन है। व्यक्ति से समाज, समाज से देश और देशों से संसार बना हुआ है। जैसे व्यक्तियों का पूर्व संचित कर्म ही उनका भाग्य है उसी तरह सारे व्यक्तियों के सम्मिलित भाग्यों या कर्मों का सामूहिक परिणाम (result) जो होता है वही देश के भाग्य की सृष्टि करता है और देशों के संचित कर्म या भाग्य संसार के भाग्य का निर्माण करते हैं। कोई व्यक्ति या कोई देश अकेला नहीं है। सबके कर्मों का अंतिम परिणाम सबको भोगना पड़ता है। संसार में सुख शान्ति की वृद्धि करने के लिए सारे संसार को एक इकाई या एक बड़ा कुटुम्ब समझ कर सबकी भलाई और प्रेम एवं व्यवस्था द्वारा ही सामूहिक उद्योग करने से कुछ सफलता प्राप्त होने की संभावना हो सकती है। अमेरिका और रूस अथवा दूसरे देश एवं वहाँ के देशवासी व्यक्तिगत स्वार्थ आदि अपना अपना एकदम दूसरे से अलग अलग समझते रहेंगे तो संसार में अशांति और दुःख बने ही रहेंगे। सबका स्वार्थ एवं दूसरे का स्वार्थ में सन्निहित हैं सन्निबद्ध हैं। अपनी उन्नति करने के लिए संसार का उन्नति आवश्यक है। जबतक अपने चारों तरफ का वातावरण शुद्ध नहीं होता, बाहर से आनेवाली वर्गणाओं में शुद्धता नहीं हो सकती और वे आंतरिक वर्गणाओं से मिलकर सचमुच अशुद्धता उत्पन्न करती ही रहेंगी। इसलिए मनुष्य का अपना कर्म और भाग्य उत्तम हो इसलिए संसार का कर्म और भाग्य उत्तम होना भी परम आवश्यक है। अमेरिका और रूस को भी इन बातों की महत्ता समझकर सारे संसार में युद्ध की विभीषिका बनाये रखने के बजाय शान्ति और प्रेम का वातावरण बना कर अपने देशवासियों का और बाकी सभी लोगों के कल्याण का भी उद्योग इस प्रकार करना चाहिए। दूसरा कोई भी मार्ग स्थायी सुख शान्ति का जनक व्यक्ति, देश या संसार किसी के लिए भी नहीं हो सकता है। केवल भगवान महावीर का बतलाया मार्ग ही स्थायी सुख शान्ति और सच्चे कल्याण का जनक एवं शुद्ध पूर्ण ज्ञान का दाता है। आशा है कि देश, विदेश और संसार के विद्वान् इधर अवश्य ध्यान देंगे।

नोटः—*जैनागम में पुद्गल के २३ भेद बताये हैं—अणुवर्गणा, संख्याताणु-वर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, तैजसवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, कार्माणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सान्तरनिरन्तरवर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येक शरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा और महास्कंधवर्गणा।*

इन तेईस प्रकार के पुद्गलों में से आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनो-वर्गणा और कार्माणवर्गणा ये पाँच प्रकार के पुद्गल ग्राह्य माने गये हैं अर्थात् ये जीव के उपयोग में आते हैं। आहारवर्गणा से शरीर, तैजसवर्गणा से ओज, भाषावर्गणा से वचन प्रवृत्ति, मनोवर्गणा से मन और कार्माणवर्गणा से कर्म का निर्माण होता है।

—संपादक

कुंदाद्रि या कुंदपर्वत

[ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, मूडबिद्री]

आगुम्बा-शिवमोग्ग रास्ते से आगुम्बा से पाँच मील पर गुड्डेकेरे गाँव है। इस गाँव से साढ़े तीन मील पर कुंदाद्रि की तलहटी है। हाँ, गुड्डेकेरे से तीन ही मील पर कुंदपुर नामक एक स्टेट है। इसके मालिक श्री रामप्प गौड एम० जी० हैं। आप बड़े ही मिलनसार निगर्वी धर्मश्रद्धालु सहृदय व्यक्ति हैं। कुंदाद्रि जानेवाले यात्रियों को हर समय हर प्रकार का सौकर्य प्रदान करने के लिये आप कटिबद्ध रहते हैं। वस्तुतः आपकी धर्मश्रद्धा प्रशंसनीय ही नहीं, प्रत्युत अनुकरणीय भी है। तलहटी से पर्वत के मस्तक पर पहुँचने का रास्ता डेढ़ मील का है। पर्वत भूतल से १८०० और समुद्र से ३२८७ फुट ऊँचा है। पर्वत के ऊपर पापविच्छेदन नामक एक छोटा सरोवर है, जिसका पानी आरोग्यप्रद माना जाता है। सुना है कि सरोवर का पानी गन्धक-मिश्रित है और इसके पान से अनेक कष्टसाध्य चर्मरोग आसानी से दूर हो जाते हैं।

यहाँ का सूर्योदय और सूर्यास्त का दृश्य बड़ा सुन्दर है। यहाँ पर की एक विशेषता यह है कि सूर्योदय और सूर्यास्त का दृश्य एक ही स्थान से सुलभता पूर्वक देखा जा सकता है। वह सर्वत्र साध्य नहीं है। प्रातः काल सूर्योदय के पूर्व पहाड़ के ऊपर से देखने से उसके चारों ओर विशाल क्षीरसागर की तरह दीखता है। जनश्रुति है कि आचार्य कुंदकुंद की तपोभूमि होने के कारण ही इस पर्वत का नाम कुंदाद्रि पड़ा है। बल्कि पर्वत के ऊपर जो चरणचिन्ह अंकित है, वह कुन्दकुन्द का ही कहा जाता है। इस पर्वत पर एक गुफा भी है जिसमें पूर्व में जैन मुनिगण तपस्या किया करते थे। कुन्दाद्रि के ऊपर एक शिलामय दिगम्बर जैन मन्दिर भी है। शालिवाहनशक १०२५ (ई० सन् ११०३) सुभानु संवत्सर, चैत्र शु० पूर्णिमा बुधवार के दिन महाराजा तैलपने इसे निर्माण कराया था। मंदिर में तीन खण्ड हैं—गर्भगृह, सुखनासि और मुखमण्टपा जिनालय सुदृढ एवं सुन्दर है। यह मन्दिर होयसलेश्वर मन्दिर हलेबीडु और चैन्नकेशव मंदिर बेलूरु का समकालीन है। हिन्दू-पुराणों के कथनानुसार मुचुकुन्द मुनि को भगवान् श्री कृष्ण ने यहीं पर मोक्ष प्रदान किया था। मंदिर निर्माता महाराजा तैलप सातरवंशी हैं। इस वंश के शासकों की राजधानी पोंबुच्च थी। यह राजवंश शुद्ध जैन धर्मानुयायी रहा। तैलप का विशेष परिचय यत्र तत्र उपलब्ध यहाँ के अन्यान्य शिलालेखों में पाया जाता है। मालूम होता है कि महाराज तैलप इस कुन्दाद्रि पर भी रहा करता था। बहुत कुछ संभव है कि गुरुतर राज्यकार्यों से थका हुआ महाराज अपनी थकावट को दूर करने के लिए कभी कभी यहाँ पर आया करता था। पहाड़ को

घरे हुए हुआ के कई ध्वंशावशेष आज भी यहाँ पर मौजूद हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि एक जमाने में यह पर्वत जैन मुनियों का पवित्र तपोभूमि रहा है। स्थान बहुत ही सुन्दर एवं आकर्षक है। यों तो श्रद्धा स्वरूप इस पर्वत के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा करते हैं। परन्तु प्रमाणाभाव उनकी इन सब बातों पर जनता सहसा विश्वास नहीं करती।

१६ वीं शताब्दी के कन्नड कवि बाहुबली ने अपने नागकुमार चरित' में इस कुन्दाद्रि का बड़ा महिमा गाया है। बाहुबली का कहना है कि कणाम्बर के भूपणतुल्य इस कुन्दाद्रि ने मानो त्रैलोक्य को ही अपने मस्तक पर धारण कर लिया है। कवि यह भी कहता है कि यह पर्वत मुनिगण, भ्रमरवृन्द, क्रूर सर्प, नाना जाति के वन्य मृग एवं वृक्षसमूह से भले प्रकार सुशोभित है। बाहुबली ने रामकर पापविच्छेदन सरोवर की बड़ी तारीफ की है। कवि कहता है कि इसका दर्पणतुल्य निर्मल जल वर्षाकाल में न बढ़ता है और ग्रीष्मकाल में न घटता है। साथ ही साथ इसमें किसी प्रकार के जलचर पैदा नहीं होते। बाहुबली सरोवर के दक्षिण में विराजमान श्री पार्श्वनाथ जिनालय एवं उसके सामने वर्तमान मानस्तम्भ तथा ब्रह्मयक्ष की मूर्ति का भी उल्लेख करता है। फिर भी कवि यह नहीं कहता है कि आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द की तपस्या के कारण ही इस पर्वत का नाम कुन्दाद्रि पड़ा है। बल्कि कतिपय विद्वानों की स्पष्ट राय है कि कुन्दकुन्द की तपोभूमि तामिल प्रान्त में होनी चाहिये। इसी दशा में पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कुन्दाद्रि का नाम आचार्य कुन्दकुन्द की तपस्या के कारण ही पड़ा है यों नहीं माना जा सकता। हाँ, इसका कारण खोजना परमावश्यक है।

कुन्दाद्रि की चारों ओर गौड उपनामवाले वैष्णव क्षत्रियों के बहुत से घराने हैं। ये सब पूर्व में शुद्ध जैन धर्मानुयायी थे। इनमें शकरप्प गौड, नागप्प होंटे, तम्मण्ण हेगड और श्रीमती फाइम्म आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्हें जैन धर्म में बड़ी श्रद्धा है। हाल ही में पोंबुच्च या हुंबुच के सुयोग्य मठाधीश श्री देवेन्द्रकीर्ति जी ने इस कुन्दाद्रि के जिनालय का जीर्णोद्धार कराया है। इस जीर्णोद्धार कार्य में भी उपर्युक्त शकरप्प गौड आदि धर्मश्रद्धालु आसपास के भक्तों ने विशेष सहयोग प्रदान किया है। इस मार्ग से जानेवाले प्रकृति प्रेमी यात्रियों को एकबार इस पर्वत का दर्शन अवश्य कर लेना चाहिये। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य वस्तुतः दर्शनीय है। पर्वत तो पवित्र है ही। माघ माह में सम्पन्न इसके प्रतिष्ठा कार्य में मैं भी सम्मिलित रहा। उत्सव धूमधाम से बहुत सुन्दर सम्पन्न हुआ था।

क्या श्रीस्तम्भ केवल श्वेताम्बर तीर्थ है ?

(लेखक—श्रीयुत बा० रामचन्द्र जैन)

प० नाथूराम जी प्रेमी तथा प्रो० हीरालाल जी ने अपने लेख "हमारे तीर्थ क्षेत्र" की भूमिका लिखते हुए लिखा है कि "फलोधी" "आबू" तथा "स्तम्भ" आदि तीर्थ हैं, जिन्हें दिगम्बर सम्प्रदाय नहीं मानता और न दि० साहित्य मे उनका कोई उल्लेख मिलता है।

परन्तु खोज बीन करने पर पता चलता है कि ये बातें ठीक नहीं, क्योंकि इन तीनों ही तीर्थों को श्वे० सम्प्रदाय की तरह ही दिगम्बर सम्प्रदाय बराबर से ही पूजता चला आ रहा है। इसमे फलोधी तथा आबू तो राजस्थान प्रात के ऐसे हिस्से मे स्थित हैं जहाँ श्वे० सम्प्रदाय का जोर ज्यादा है तथा श्री स्तम्भ तो सौराष्ट्र देश मे स्थित है जो श्वे० सम्प्रदाय का गढ ही है।

जहाँ जैनियों का जोर कम रहा है वहाँ के अनेक तीर्थ वैष्णवों के कब्जे में चले गये है। इसके एक नहीं अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। तब इसमे आश्चर्य ही क्या, एक ही जाति के दो फिरके एक दूसरे के मन्दिरो पर कब्जा न जमा लेवें। इस काम मे हमारे श्वे० भाई बहुत होशियार होते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण धुलेव के दिगम्बर जैन क्षेत्र केशरिया नाथ से भी मिल सकता है। अब हम श्री स्तम्भ क्षेत्र के ऊपर विचार करते हैं तथा आबू और फलोधी के बारे मे अगले अङ्क मे विचार प्रकट किये जायँगे।

श्री स्तम्भ तीर्थ को श्वे० सम्प्रदाय वाले भगवान पार्श्वनाथ से सम्बद्ध एक अतिशय क्षेत्र मानते हैं। और दि० समाज इस तीर्थ को बिल्कुल भूल चुका है। वहाँ के दिगम्बर सम्प्रदाय के मन्दिर या तो श्वे० सम्प्रदाय वालों ने अपनी आम्नाय मे परिणत कर दिये हैं अथवा धराशायी हो गये हैं। लेकिन यह बात सिद्ध है कि वहाँ पर भगवान् आदिनाथ का दिगम्बर जैन मन्दिर १८ वीं शती तक था। तथा १६ वीं शदी मे ईडर तथा सूरत गद्दी के भट्टारकों द्वारा वहाँ पचकल्याणक प्रतिष्ठा भी हुई थी।

सूरत मे खापटिया चकला मुहल्ले के श्री बड़े दि० जैन मन्दिर मे पद्मावती की पाषाण की खड्गासन प्रतिमा है, जिस पर इस आशय का एक शिला लेख है—

स० १५४४ वर्षे वैशाख सुदी ३ सोमे॥ श्री मूलसघे सरस्वती गच्छे बलात्कार-गणे भट्टारक श्री विद्यानंदी देवः तत्पट्टे भट्टारकमल्लिभूषणः॥ श्री स्तम्भ तीर्थे॥ हुँबड ज्ञातीय श्रेष्ठी चापा भार्या रूपिणी तत्पुत्री आर्जिका रत्न सिरी क्षुल्लिका जिनमती श्री विद्यानदी दीक्षिता आर्जिका कल्याण सिरी॥ अग्रोत का हि ज्ञाती साह देवा भार्या नारिंगदे पुत्री जिनमती करापिता प्रणमति श्रीपार्श्वम्।

इस लेख से साफ साफ मालूम पड़ता है कि श्रीस्तम्भ तीर्थ पर सं० १५५४ में सूरत गद्दी के मूलसंघीय भट्टारक मल्लिभूषण तथा आर्यिका जिनमती तथा कल्याणश्री के उपदेश से अग्रवाल ज्ञाती साह देवा ने इस पद्मावती की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराइ थी।

सूरत के इसी मन्दिर में एक चौबीस पट्ट भी है जिसकी भी प्रतिष्ठा संवत् १५४८ के वैसाख सुदी ३ सोमवार को ईडर के मूलसंघीय भट्टारक श्री भुवन कीर्त्ति के शिष्य भट्टारक ज्ञान भूषण जी द्वारा हुँबड़ ज्ञाती साह रामा ने कराइ थी। लेख इस मुताबिक हैं —

सम्वत् १५४८ वर्ष वैसाख सुदी ३ सोमे ॥ श्री मूलसंघे भट्टारक श्री भुवनकीर्त्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री ज्ञानभूषण गुरु उपदेशात् हुँबड़ साह रामा भार्या कर्मी सुत कणा भार्या हासी सुत माना एते नित्य प्रणम्य श्री महावीर जिनम् ॥

यद्यपि इन दोनों प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा भिन्न २ भट्टारकों ने कराइ है, परन्तु पहले बहुधा ऐसा होता था। किसी भी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर कई विद्वान् मुनियों तथा भट्टारकों का समागम हो जाता था तथा वे अपने २ भक्त श्रावक को उपदेश तथा उत्साहित करके नयी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करा देते थे।

करमसद के भट्टारकीय मन्दिर में एक गुटका है जिसमें सिद्ध आदि १८ भक्तियाँ तथा विविध प्रतिष्ठा विधि आदि हैं। यह गुटका २७९ पत्रों का है। इसे सं० १७०३ चैत्र सुदी १४ रविवार के दिन गोपीपुरा सूरत के भट्टारक सुरेन्द्रकीर्त्ति जी ने अपने खास पढ़ने के लिये श्रीस्तम्भपुर के श्री आदिनाथ भगवान के मन्दिर में लिखवाया था। सूरत से यह गुटका करमसद कैसे गया, इसका कारण यह था कि सं० १८९० में भट्टारक सुरेन्द्र कीर्त्ति जी की मृत्यु के पश्चात् सूरत गद्दी पर बैठने के लिये भट्टारक जी के दो चेलों में झगड़ा हुआ। पीछे बड़े चेले भट्टारक विजयकीर्त्ति जी तो सूरत गद्दी पर बैठे तथा छोटे चेले भट्टारक सकलकीर्त्ति जी करमसद की गद्दी पर बैठे। और शायद उसी समय यह गुटका सूरत से करमसद चला गया। भट्टारक सकलकीर्त्ति जी बड़े विद्वान् तथा मंत्र शास्त्र के ज्ञाता थे। सूरत के नवाब इनका बड़ा भक्त था। इन्हीं भट्टारक जी ने सूरत के श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवा कर प्रतिष्ठा करायी थी।

इन सब बातों से पता चलता है कि १८ वीं सदी तक दिगम्बर सम्प्रदाय वाले तथा इनके भट्टारक श्रीस्तम्भतीर्थ की यात्रा के लिये आया करते थे तथा वहाँ रह कर शास्त्र रचना वगैरह किया करते थे। लेकिन पीछे किस कारण से दिगम्बरियों ने इस क्षेत्र

की वन्दना छोड़ दी, सो अन्धकार में है। लेकिन यह बात अवश्य हुई कि पिछले भट्टारक लोग बड़े शिथिलाचारी हो गये थे तथा अपना समय धार्मिक कार्यों में न व्यतीत करके आमोद प्रमोद मे बिताया करते थे। जब गुरुओं का यह हाल रहा तो उनके भक्त श्रावकों का तो पूछना ही क्या? और इस तीर्थ को भूल जाने का एक सबसे बड़ा कारण यही था। मौका पाकर श्वे० सम्प्रदाय वालों ने हमारे मन्दिर आदि पर कब्जा कर लिया।

आशा है कि विद्वान् लोग इस सम्बन्ध मे विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। खास कर सौराष्ट्र प्रान्त मे रहने वाले विद्वानों को इस क्षेत्र पर जाकर पूरी पूरी खोज बीन करनी चाहिये, जिससे कि इस भूले हुए क्षेत्र का उद्धार हो सके।



प्रमेयरत्नमाला की टीकाएँ

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य आरा]

जैन न्यायशास्त्र में प्रमेयरत्नमाला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य माणिक्यनन्दी ने 'परीक्षामुखम्' में गागर में सागर भर देने की कहावत चरितार्थ की है। इस सूत्र ग्रंथ पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। यद्यपि तार्किक अनन्तवीर्य ने प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रंथों का सार लेकर 'परीक्षामुखम्' पर प्रमेयरत्नमाला नामक टीका लिखी है इस टीका पर आगे चलकर अनेक ... ने कई टीकाएँ लिखी हैं जो स्वतन्त्र ग्रंथ बन गयी हैं। इन समस्त टीकाओं का रचनाकाल १६ वीं शती से १८ वीं शती तक माना गया है।

प्रमेयरत्नमाला में प्रमाण, प्रमेय का विस्तृत विवेचन है। प्रमेयकमलमार्तण्ड जैसे गम्भीर ग्रन्थों के अध्ययन के लिए जिनके पास समय और शक्ति नहीं है, वे इस लघुकाय ग्रंथ के अध्ययन से जैन न्याय के तत्त्वों को अवगत कर सकते हैं। इस ग्रंथ में छः उद्देश हैं। प्रथम उद्देश में प्रमाण का स्वरूप, उसकी विवेचना, उत्पत्ति, ज्ञप्ति एवं प्रमाणता प्रभृति का निरूपण अन्य मतों का निराकरणपूर्वक किया गया है। इस रचना की शैली तार्किक है, मीमांसात्मक विवेचनपद्धति द्वारा पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों का समर्थन किया है। जैन न्याय के व्यवस्थापक आचार्य अकलङ्कदेव द्वारा प्रतिपादित स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को ही प्रमाण सिद्ध किया है। यह ज्ञान प्रदीप की तरह स्वपर प्रकाशक है, अपने आपको स्वरूप से भासित करता है और अन्य घटपटादि पदार्थों का प्रतिभासक करता है।

दूसरे परिच्छेद में प्रमाणों का वर्गीकरण किया गया है। मूलतः प्रमाण के दो भेद हैं— प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय निरपेक्ष विशिष्ट आत्मशक्ति से उत्पन्न होता है और परोक्ष ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता से। यों तो आत्मशक्ति दोनों ही प्रकार के ज्ञानों की उत्पत्ति में सहायक है पर परोक्ष में इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित है और प्रत्यक्ष में नहीं। आचार्य अनन्तवीर्य ने इस द्वितीय परिच्छेद में 'प्रत्यक्षेतरभेदात्' सूत्र की व्याख्या में एक प्रमाणवादी चार्वाक के प्रति अनुमान की सिद्धि, प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणवादी बौद्ध के प्रति प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि, तीन प्रमाणवादी सांख्य के प्रति तर्क की सिद्धि एवं दो प्रमाणवादी वैशेषिक, चार प्रमाणवादी नैयायिक और छः प्रमाणवादी मीमांसक के प्रति स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि कर प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों की स्थापना की है।

विशदज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ये दो भेद हैं। इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो एकदेश विशदज्ञान होता है, उसे सांव्यवहारिक[1] और

---

१ समीचीन प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः तत्र भवं सांव्यवहारिकम्। मू०। किंभूतमिदं इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तकम्। इन्द्रियं चक्षुरादि, अनिन्द्रियं मनः ■ निमित्तं कारणं यस्य। समस्त

इन्द्रियों के सहाय्य बिना केवल आत्मा से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे पारमार्थिक या मुख्य प्रत्यक्ष माना है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं। अवग्रह के दो भेद हैं—व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता, अतः व्यञ्जनावग्रह की उत्पत्ति स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन चार इन्द्रियों से होती है। व्यञ्जनावग्रह जहाँ होता है, वहाँ ईहादि अन्य तीन ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। प्रत्येक इन्द्रियज्ञान बहु, अबहु, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिसृत, निसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुव इन बारह प्रकार के विषयों को ग्रहण करता है, अतः व्यञ्जनावग्रह के कुल ४८ भेद हुए। अर्थावग्रह के साथ ईहादि ज्ञान होते हैं, अतः इनके ४×६×१२=२८८ भेद हुए। समस्त मतिज्ञान के २८८+४८=३३६ भेद हुए। इस परिच्छेद में ज्ञान मीमांसा के साथ ताद्रूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय का निराकरण कर योग्यता—क्षयोपशम शक्ति को ही ज्ञान व्यवस्था में कारण माना है।

इस परिच्छेद के अन्तिमसूत्र में सर्वज्ञसिद्धि, ईश्वरसृष्टिकर्तृत्वनिराकरण तथा ब्रह्माद्वैत का निराकरण पुष्ट प्रमाण और तर्कों के आधार पर किया गया है।

तृतीय परिच्छेद में परोक्षज्ञान के भेद—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम की परिभाषाएँ परमत निराकरण पूर्वक की गयी हैं। हेतु की व्यवस्था बतलाते हुए त्रैरूप्य—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्ष से व्यावृत्तित्व तथा नैयायिकाभिमत पञ्चरूप्य का खण्डन किया गया है। स्वार्थानुमान, परार्थानुमान के लक्षणों के पश्चात् उपलब्धि और अनुपलब्धिरूप हेतुओं के भेद प्रभेदों का सविस्तार वर्णन है। अन्त में आगम का लक्षण निर्धारित करते हुए वेद के अपौरुषेयत्व और शब्द के नित्यत्व की सुन्दर विवेचना की है। यह प्रकरण दार्शनिकों के लिए मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक है। इसी प्रकरण में बौद्धाभिमत अन्यापोह का भी खण्डन किया है।

चतुर्थपरिच्छेद के आरम्भ में सामान्यविशेषात्मक पदार्थ को सिद्ध करते हुए बौद्धाभिमत निरपेक्षविशेष, और सांख्याभिमत निरपेक्ष सामान्य का अनेक तर्क और युक्तियों द्वारा खण्डन किया है। इस प्रकरण में सांख्याभिमत सृष्टि के आरम्भ और प्रलय की प्रक्रिया का दिग्दर्शन भी कराया गया है। इसी सूत्र की व्याख्या में समस्त वस्तुओं को अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए अनेकान्तात्मक वस्तुव्यवस्था में पर प्रदत्त विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव इन आठ दोषों का परिहार कर वास्तविक वस्तु व्यवस्था सिद्ध की है। सामान्य के तिर्यक् और ऊर्ध्व एवं विशेष के पर्याय और व्यतिरेक भेदों का लक्षण

व्यस्त च कारणमभ्युपगन्तव्यम्। इन्द्रियप्राधान्यादनिन्द्रियबलाधानादुपजातमिन्द्रियप्रत्यक्षम्, अनिन्द्रियादेव विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम्— प्रमेयरत्नमाला पृ० ४४

सहित विवेचन किया है। इस अनेकान्त दृष्टि द्वारा एकान्तों की पारस्परिक वादलीला का अन्त आचार्य ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है। समस्त विरोधों का समाधान एवं पूरे सत्य का दर्शन अनेकान्तवाद की भूमिका पर ही सम्भव है। यद्यपि यह विचारसरणी अनन्तवीर्य की नयी नहीं है, आचार्य अकलंक, समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र जैसे तार्किकों का अनुकरणमात्र है, तो भी थोड़े में तथ्यांश का ज्ञान करा देना ही इनकी मौलिकता है।

पाँचवें परिच्छेद में प्रमाण का फल और उसके भिन्नाभिन्नत्व का विश्लेषण किया है। छठवें परिच्छेद में प्रमाणाभास, हेत्वाभास, नय, नयाभास आदि का विवेचन है। हेत्वाभास सम्बन्धियक जो अनेक परम्पराएँ प्रचलित हैं, उन सबकी मीमांसा इस प्रकरण में सुन्दररूप से की गयी है। इसी परिच्छेद में आत्मा का व्यापकत्व और अणुपरिमाणाधिकरणत्व का भी खण्डन कर शरीर प्रमाण आत्मा को सिद्ध किया है।

टीकाएँ — प्रमेयरत्नमाला की अबतक छः सात टीकायें उपलब्ध हैं। इनमें निम्न टीकाएँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनमें विषयनिरूपण स्वतन्त्ररूप से किया है तथा दार्शनिक तथ्यों की मीमांसा प्रमेयरत्नमाला के क्षेत्र में रहकर भी सुस्पष्ट और वस्तुतरूप से की है। (१) अर्थ प्रकाशिका (२) न्यायमणिदीपिका (३) प्रमेयकण्ठिका (४) प्रमेयरत्नमालालङ्कार (५) प्रमेयनिवृत्ति और (६) प्रमेयरत्नमालालघुवृत्ति।

अर्थप्रकाशिका —इस टीका के रचयिता पण्डिताचार्य चारुकीर्ति हैं। यह श्रवणबेलगोला के पट्टाधीशों का उपाधि नाम रहा है। अतः निश्चित प्रमाण के अभाव में इस टीका का समय निर्धारण करना कठिन है। परन्तु इस टीका में सम्बन्धादित्रय का विवेचन करते हुए स्वयं ग्रन्थकर्ता ने लिखा है—

"लभ्यते एव विषयत्वं नाम शास्त्रस्य यत्नोधविषयत्वमिति। अत्र वक्तव्यांश न्यायमणिदीपिकाप्रकाशे एव सूत्रव्याख्यायां च विस्तरेणास्माभिरभिहितो वेदितव्य"[१]। इससे स्पष्ट है कि न्यायमणिदीपिका टीका भी इन्हीं पण्डिताचार्य की है। A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Government Oriental Manuscripts Library, Madras में न्यायमणिदीपिका की प्रशस्ति देते हुए सम्पादक ने लिखा है—

"The transcription of this manuscript is said to have been completed by Janardan Vijaya of Vasistha gotra and pupil of Carukirti Panditacarya on monday the 1st of the bright half of the month Ārani in the year Plave in the Salivahana year 1763"[२]

१ अर्थप्रकाशिका ९ वें पृष्ठ का पूर्वार्ध

२ DCSM पृष्ठ ३९७६

अर्थात् इस टीका को शक संवत् १७६३ में वैशाख शुक्ला प्रतिपदा सोमवार को प्लव नामक संवत् में पंडिताचार्य चारुकीर्त्ति के शिष्य वशिष्ठगोत्रीय जनार्दन विजय ने पूर्ण किया। इससे स्पष्ट है कि न्यायमणिदीपिका का आरम्भ भी पंडिताचार्य चारुकीर्त्ति ने ही किया था, पर वे किसी कारण से इसकी समाप्ति नहीं कर सके, अत: इसे उनके शिष्य जनार्दन विजय ने समाप्त किया। अर्थप्रकाशिका में भी स्वयं ग्रन्थकर्त्ता ने न्यायमणिदीपिका की बात ऊपर कही है, अतएव उक्त टीका का रचनाकाल शक संवत् की १८ वीं शती है। मालूम होता है कि न्याय-मणिदीपिका अर्थप्रकाशिका से पहले लिखी गयी थी, पर समाप्ति उसकी पीछे हुई।

शैली और भाषा—अर्थप्रकाशिका टीका की शैली में जहाँ-तहाँ नव्यन्याय पद्धति का आश्रय लिया गया है। यथा—"अनुवादो नाम अत्र न निष्ठप्रकारताशालिबोधजनकशब्द-प्रयोग."[1]। "प्रतिज्ञा हि स्वकर्त्तव्यत्वप्रकारकबोधजनकशब्दप्रयोगरूपा। यथा मया इदं क्रियते इति प्रतिज्ञाया निरुक्तलक्षणं वर्तते। स्व वक्तृपुरुष. तत्कर्त्तव्यत्व कर्तृविषयत्व तत्प्रकारको यो बोधः मया क्रियते इति वाक्यजन्यमन्निष्ठकृतिविषयाभिन्नमिदमित्याकारको बोध। तादृशबोधे हि स्वकर्त्तव्यत्वं हि प्रकारः"[2]। विषय का स्पष्टीकरण इतने अच्छे ढग से किया है, जिससे मूल विषय को समझने में बड़ी सरलता होती है। बीच-बीच में पूर्वपक्षों को स्पष्ट करने के लिए मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, कारयकारिका, न्यायसूत्र, छान्दोग्योपनिषद्, प्रमाणसंग्रह प्रभृति ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये हैं। निरूपण शैली एक अध्यापक के पाठन के तुल्य है। विषय का प्रवेश हृदय में सीधे और तीक्ष्णरूप से होता है। उदाहरणार्थ—'प्रदीपवत्' सूत्र की व्याख्या उद्धृत की जाती है। पाठक देखेंगे कि टीकाकार ने अपने शब्दों में एक सुयोग्य व्युत्पन्न अध्यापक के समान विषय का स्पष्टीकरण किया है। पाठकों की सारी कठिनाइयाँ, जो प्रमेयरत्नमाला के अध्ययन में उत्पन्न होती थीं, दूर हो जाती हैं।

"यथा प्रदीपस्य प्रत्यक्षता विना तत्प्रतिभासितस्यार्थस्य प्रत्यक्षता न घटते, तद्वत् ज्ञानस्य प्रत्यक्षता विज्ञानविषयीभूतार्थस्य प्रत्यक्षता न घटत इति भाव। अत्र स्वव्यवसायात्मकत्वसमर्थक-प्रकरणोपसंहारे प्रदीपदृष्टान्त वदतो आचार्यस्यायमाशयो लभ्यते। ज्ञान स्वत प्रकाशकत्वाभाववत् प्रमेयत्वात्, घटादिवदिति नैय्यायिका'। तदसत् तदीयपक्षस्य प्रत्यक्षानुमानबाधितत्वात्। तथा च प्रयोगः ज्ञानं स्वविषयीकरणे स्वभिन्नस्वसजातीयपदार्थान्तरानपेक्ष प्रत्यक्षविषयीभूतपदार्थसमवेत-गुणत्वे सति अदृष्टरूपसहकारिविशिष्टकारणत्वात्। प्रदीपनिष्ठभासुराकारवत्, यथा प्रदीपनिष्ठ-भासुराकार प्रत्यक्षविषयीभूतो योऽर्थ. प्रदीपादिरूप तद्गुणोऽपि भवति। अदृष्टरूपसहकारिविशिष्ट-करणमपि भवतीति कृत्वा स्वावभासने स्वसजातीयपदार्थान्तरं स्वभिन्नदीपादिक नापेक्षते। तद्वत्

१ पृ० २३
२ उ० पु० पृ० ३ उ ४ पू०

शास्त्रे प्र वृत्तिस्तेषां यो न तद्गुणानि भवति, अव्युत्पन्नस्य विकल्प च भवति। इत्यवगमयते स्यातिदिन् भगवन् नैयायिकापेक्षते इति"।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शैली व्याख्यात्मक है। जिज्ञासु थोड़े श्रम से ही प्रमेयरत्नमाला के हृदय को ग्रहण कर सकता है। इसकी अतिरिक्त व्याख्या में अलंकारों और छन्दों का भी प्रयोग किया है जिससे शैली में सरसता आ गयी है। आरम्भ में मङ्गलाचरण के श्लोकों की व्याख्या करते हुए 'नतामरशिरो [illegible] इत्यत्र वृत्त्यनुप्रासालंकारः। स्वात्मनिष्ठानामादौ। एकद्वयानिष्ठानामादौ वृत्त्यनुप्रास अभिहितत्वात्'[1]। तदुक्त—एकद्विप्रभृतीनां [illegible] पुनरावृत्तिरसौ वृत्त्यनुप्रास इष्यते "इति [illegible] काव्यालंकार। [illegible] विहारविप्रिय [illegible] इति [illegible]। अकलङ्केति—अत्र [illegible]कालंकार। यतश्चि [illegible] प्रत्यागत्, उपमानोपमेययोरभेदकथन हि रूपकम्"[2]।

भाषा सरल और प्रवाह युक्त है। न्याय जैसे कठिन विषय को सरल संस्कृत में समझाने का प्रयास प्रशंसनीय है। समस्त पदों का प्रायः अभाव है। टीकाकार ने विषय को बलपूर्वक लादने का प्रयास नहीं किया है, बल्कि सुगमरीति से पाठकों के अन्तःकरण में प्रविष्ट कराने की चेष्टा की है। जैसा प्रायः देखा जाता है कि कतिपय टीकाकार विषय को इतना उलझा देते हैं कि मूल ग्रन्थ समझ में आ जाय, पर टीका नहीं आती। परन्तु इस अपवाद से यह टीका रहित है। प्रत्येक कठिन विषय को स्पष्ट किया गया है। प्रसादगुण युक्त भाषा शैली पाठकों का ध्यान सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

विषय विवेचन—यों तो प्रमेयरत्नमाला में निरूपित विषयों की विवेचना ही इसमें की गयी है तथा उन्हीं विषयों का स्पष्टीकरण है, परन्तु तो भी इसमें कतिपय नवीन बातों का समावेश टीकाकार ने किया है। इस टीका में सम्बन्धरूप से उपलब्ध विषयों में शब्दाद्वैत, तदुत्पत्ति, प्रमाणसम्प्लव, हेत्वाभासों का विस्तृत विवेचन प्रभृति हैं। जिन सूत्रों की व्याख्या प्रमेयरत्नमालाकार ने संक्षेप और अस्पष्टरूप में की है, उन सूत्रों की व्याख्या इस टीका में स्पष्ट और विस्तृत है। प्रमेयरत्नमाला में अनेकान्त का विषय कुछ क्लिष्ट है जिससे सर्वसाधारण उसे हृदयंगम नहीं कर सके, परन्तु इस टीका में इस विषय को इतने सरल और सीधे ढंग से रखा है, जिससे एक साधारण न्याय का विद्यार्थी भी इसे समझ सकता है। यद्यपि विषय निरूपण में जहाँ तहाँ नव्यन्याय पद्धति को अपनाया है, तो भी विषय को दुरूह नहीं होने दिया है। अनेकान्तात्मक वस्तु की सिद्धि में अनेक अनुमानों का भी प्रयोग किया है तथा विस्तारपूर्वक उदाहरण देकर इस

१ अ० पु० पृ० १८, १९
२ अ० पु० पृ० १
३ अ० पु० पृ० २

विषय को समझाया है। अन्यमतावलम्बियों ने जो अनेकान्त में आठ दूषण दिये हैं, उनका निराकरण भी बड़ी दृढ़ता और प्रौढ़ता के साथ किया है। उत्पाद-विनाश-ध्रौव्यात्मक वस्तु की साधना कर ईश्वर के नित्यज्ञान का निराकरण किया है तथा सिद्ध किया है कि समस्त वस्तुओं की वास्तविक स्थिति नयात्मक दृष्टि से देखने पर ही अवगत हो सकती है। संसार में प्रतिक्षण जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनका मूल कारण वस्तु स्वभाव है। द्रव्यदृष्टि से वस्तु नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य।

ग्रन्थ परिमाण—इस टीका में कुल २४६ पृष्ठ हैं, प्रतिपृष्ठ ११ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्ति १८ अक्षर हैं। पृष्ठ की लम्बाई ८॥ इञ्च और चौड़ाई ६॥। इञ्च है। इस टीका की अन्तिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है।

"स्वस्तिश्रीमत्सुरासुरवृन्दवन्दितपादपाथोजश्रीमन्नेमीश्वरसमुत्पत्तिपवित्रीकृतगौतमगोत्रसमुद्भूतार्हद्विजश्रीब्रह्मसूरिशास्त्रितनुजश्रीमद्दोर्बलिजिनदासशास्त्रिणामन्तेवासिना मेरुगिरिगोत्रोत्पन्न वि० विजयचन्द्राभिधेन जैनक्षत्रियेण लेखीति। भद्रं भूयात्। श्री श्री० श्री० श्री०"

न्याय मणिदीपिका—इस टीका के रचयिता पण्डिताचार्य चारुकीर्तिजी ही हैं, इसका उल्लेख अर्थप्रकाशिका में स्वयं ही आचार्य ने किया है। यद्यपि प्रशस्तिसंग्रह में श्री पं० के० भुजबली शास्त्री ने इसके रचयिता का नाम अजितसेनाचार्य ने लिखा[1] है, और अपने इस कथन का समर्थन Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Central Provinces and Berar by R. B Hiralal B. B. (Appendices) ने किया है। पर इस कथन में कोई सबल युक्ति नहीं है, अतः पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर इसके आरम्भ करनेवाले पण्डिताचार्य चारुकीर्ति और समाप्ति करनेवाले उनके शिष्य जनार्दन विजय हैं। इस टीका की समाप्ति शक संवत् १७६३ में हुई है।

शैली और भाषा—इस टीका की शैली समस्यन्त है तथा प्रौढ गद्यात्मक है। रचयिता ने भाषा सम्बन्धी पाण्डित्य का प्रदर्शन सर्वत्र किया है। विषय निरूपण की अपेक्षा श्रेष्ठ गद्यशैली में उलझाने का आयास अधिक है। आरम्भ में ही संस्कृत की छटा दिखलाते हुए कहा है—

"इह हि खलु सकलकलङ्कविकलकेवलावलोकनविमललोचनलोकितलोकपरमगुरुवीरजिनेश्वररुचिरमुखसरसीरुहसमुत्पन्नसरस्वतीरसानवरतस्मरणावलोकनमल्लापदत्तचित्तवृत्तिः सकलराजाधिराज परमेश्वरस्य हिमशीतलस्य महाराजस्य महास्थानमध्ये निष्ठुरकष्टवादसौष्ठवदुष्टसौगतान् चटुलघटवादादिपटिष्ठतयातारादेवताधिष्ठितदुर्घटघटवादविजयेन विघट्य तेन राज्ञा सभ्यैस्सभासदैश्च परिप्राप्तजयप्रशस्तिः सकलतार्किकचूडामणिमरीचिमेचकितरुचिररुचिचकचकायमानचरणनखरो

[1] प्रशस्ति संग्रह—जैन-सिद्धान्त-भवन आरा, पृ० २—३

भगवान् महाकलङ्कदेवो विश्वविद्यमय.....यद्वादिमुक्तिशास्त्रं तमप्रमप्रमाणमवयूतमाम् ।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि इस टीका में पूर्णतया पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। विवेचन करते हुए बीच बीच में प्रश्नोत्तर शैली का भी आलम्बन लिया गया है। परिभाषाओं का स्पष्टीकरण भी अच्छे रूप से किया है। शब्दजाल इतना अधिक है जिसमें वास्तविक विषय छिप सा गया है। अर्थप्रकाशिका की शैली से इसकी शैली बिल्कुल भिन्न है। यद्यपि अलंकार वर्णनों का प्रयोग स्थलों में समानरूप से हुआ है। आलंकारिक पाण्डित्य दिखलाते हुए लिखा है— "परैरामुमभाद्रशमिनिभ्यकालकारेणालङ्कृतत्वात्तमलङ्कार तदेव रूपनीयेननाभि ... तामेव तिरोभूतमेतावदमिप्यत इति ... दर्शयति" ।

भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित है। न्यायशास्त्र में भी काव्यशास्त्र का आनन्द प्राप्त होता है। कई स्थानों पर तो गद्य में उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक और श्लेष आदि अलंकारों की झड़ी लगा दी है। ऐसा मालूम होता है कि टीकाकार यह भूल ही गया है कि उसे प्रमेयरत्नमाला का स्पष्टीकरण करना है, अतः अनेक स्थानों पर व्यर्थ के पाण्डित्य प्रदर्शन में समय लगाया है।

विषय विवेचन—विषय विवेचन की दृष्टि से भी चार स्थलों पर विशेषता पायी जाती है। इस टीका के पुस्तक में प्रमाण और प्रामाण्य, उत्पत्ति और ज्ञप्ति, अर्थापत्ति और अनुमान, उपमान और प्रत्यभिज्ञान, आदि के मन्तव्यों का अच्छा स्पष्टीकरण किया है। विषयों के विश्लेषण के लिए जैनागम के प्रमाण स्थान स्थान पर उद्धृत किये गये हैं। बन्ध व्यवस्था का निरूपण करते हुए बताया है—"स्नेहरूक्षत्वाद् बन्धः ... तेनैकगुणस्य स्निग्धस्य रूक्षस्य वाऽन्येन ... न बन्धः ... तथा द्वयाधिक... बन्धः । तत्र ... द्विगुणस्निग्धस्य ... द्विगुणस्निग्धेन वा ... बन्धः । ... तस्यैव पुनर्द्विगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन ... न बन्धोऽस्ति । एवं त्रिगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन बन्धः ... पूर्ववदेव भवति" । आदि—

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक विषय को पर्याप्त विस्तार दिया गया है। परमतों का निराकरण भी दृढ़ता और पुष्ट तर्कों से किया है।

परिमाण—इस ग्रन्थ में १० पत्र हैं, प्रतिपत्र एक ओर १० पंक्तियाँ हैं और प्रतिपंक्ति २८ अक्षर हैं।

१ न्यायमणिदीपिका पत्र ११९—२१

२ न्यायमणिदीपिका पत्र १६१

प्रमेयरत्नमालालंकार—इस टीका के रचयिता पण्डिताचार्य चारुकीर्ति हैं। यह रचना अर्थप्रकाशिका टीका की पूर्ववर्ती मालूम होती है। अनुमानतः शक संवत् १७ वीं शती में इसका प्रणयन हुआ है।

इस टीका की शैली नव्यन्याय पद्धति पर है। अवच्छेदक, अवच्छिन्न, तन्निष्ठता आदि शब्दों का प्रयोग स्थल स्थल पर हुआ है। शैली स्वच्छ, प्रौढ और परिमार्जित है नव्यन्याय पद्धति पर ब्रह्माद्वैतवादी का पूर्वपक्ष स्थापित करते हुए लिखा है—"ब्रह्माद्वैतवादिनस्तु—सत्तारूप ब्रह्मैव सर्वसाक्षात्कारि सर्वावच्छिन्न चैतन्याभिन्नत्वात्। चैतन्यस्य घटादिसाक्षात्कारित्वं हि घटावच्छिन्न चैतन्याभेद एव घटसाक्षात्कारकाले इन्द्रियद्वारा अन्तःकरणवृत्तेर्घटादिविषयदेशगमनेन घटावच्छिन्न चैतन्यस्य रूपान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्येनाभेदात्तत्ते एकदेशस्थपाध्यो भेदकत्वायोगात् गृहावच्छिन्नाकाशे घटावच्छिन्नाकाशे घटावच्छिन्नाकाशभेदवत्। मायावच्छिन्नचैतन्ये घटावच्छिन्न-चैतन्याभिरूप सर्वसाक्षात्कारित्वं न घटस्तन् पटस्सन् इत्यादि प्रत्येन(?)ण गृह्यते"[1]।

इससे स्पष्ट है कि इस टीका में नव्यन्याय की शैली पर विषय विवेचन किया गया है। विषय का स्पष्टीकरण जितना भी सम्भव हुआ है, किया है।

विषय प्रमेयरत्नमाला का ही है, उसीमें थोड़ा विस्तार किया गया है।

परिमाण—इस पुस्तक में कुल ३७६ पत्र हैं, प्रतिपत्र एक ओर ११ पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति १७ १८ अक्षर हैं।

प्रमेयकण्ठिका—इस टीका के रचयिता शान्तिवर्णी हैं। इसका रचनाकाल १६-१७ वीं शती के मध्य का है। ग्रन्थ की रचनाशैली से प्रतीत होता है कि यह प्रमेयरत्नमाला पर आरम्भिक टीका है। यद्यपि विषय का स्पष्टीकरण पूर्णरूप से नहीं हो पाया है, तो भी प्रकरणों के स्पष्टीकरण का आयास प्रशंसनीय है। रचयिता के सम्बन्ध में इस टीका से कुछ भी पता नहीं चलता है।

शैली और भाषा—इस टीका की भाषा सरल है। शैली परिष्कृत और स्वच्छ है। विषय को समझाने का प्रयास भी किया गया है। रचयिता ने स्वयं ही अपनी टीका की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

> प्रमेयकण्ठिका जीयात्प्रसिद्धानेकसद्गुणा।
> लसन्मार्त्तण्डसाम्राज्ययौवराज्यस्यकण्ठिका ॥
> सनिष्कलङ्का जनयन्तु तर्कं वा बाधितर्को मम तर्करत्ने।
> केनानिशं ब्रह्मकृतः कलङ्कश्चन्द्रस्य किं भूषणकारणं न ॥

इससे स्पष्ट है कि इनकी टीका में तर्क, युक्तियो और प्रमाणों की बहुलता है। शैली में प्रवाह और प्रसाद दोनों गुण है।

---

१ प्रमेयरत्नमालालंकार पत्र १३९

प्रमेयरत्नमाला में आगत विषयों का स्पष्टीकरण ही इस टीका में किया गया है। टीकाकार ने अपनी ओर से नवीन विषयों को उठाने का प्रयास नहीं किया है।

परिमाण—इसमें कुल ५८ पत्र हैं, प्रत्येक पत्र ८॥ × ७ है।

प्रमेयरत्नमाला लघुवृत्ति[1] — इस टीका के रचयिता के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस टीका का रचनाकाल १७ वीं शती है।

शैली, भाषा और विषय निरूपण की दृष्टि से भी इस टीका में नवीनता बहुत कम अंशों में दिखलायी पड़ती है। प्रमेयरत्नमाला में आये हुए कठिन पदों का विश्लेषण मात्र कर दिया है। शैली स्वतन्त्र भाष्य या विवेचन की नहीं है, किन्तु टिप्पणात्मक है। पाठक जिन कठिन पदों को यथार्थ रूप से हृदयंगम नहीं कर पाते हैं उन पदों का स्पष्टीकरण किया है। नयी बातें इस टीका में नहीं मिलेंगी।

[illegible] करते हुए परीक्षामुखसूत्र और प्रमेयरत्नमाला की रचना के कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

> श्रीमान् वैजेयनामाभूदग्रणीर्गुणशालिनाम्।
> बदरीपालवंशालीव्योमद्युमणिरूर्जितः॥
> तदीयपत्नी भुवि विश्रुतासीन्नाणाम्बनामा गुणशीलसीमा।
> यां रेवतीति प्रथिताम्बिकेति प्रभावतीति प्रवदन्ति सन्तः॥
> तस्यामभूद्विश्वजनीनवृत्तिर्दानाम्बुवाहो भुवि हीरपाख्यः।
> स्वगोत्रविस्तारनभोंऽशुमाली सम्यक्त्वरत्नाभरणार्चिताङ्गः॥
> तस्योपरोधवशतो विशदोरुकीर्तेर्माणिक्यनन्दिकृतशास्त्रमगाधबोधम्।
> स्पष्टीकृतं कतिपयैर्वचनैरुदारैर्बालप्रबोधकरमेतदनन्तवीर्यैः॥

टीकाकार ने इसके [illegible] में ऐसा ही लिखा है कि [illegible] की [illegible] में विवृति लिखता हूँ। अन्त में सूत्रों का [illegible] प्रमेयरत्नमाला के समान ही किया है। यद्यपि इसकी शैली में अन्तर है तथापि टीकाकार ने सूत्रों को कुछ विस्तृत कर देने की चेष्टा की है। जिन सूत्रों का विस्तार प्रमेयरत्नमालाकार ने नहीं किया है, उन सूत्रों का अर्थ इसमें भी छोड़ दिया गया है।

इस प्रकार टीकाओं में कई प्रकाशित, अप्रकाशित टीका और अद्यावधि [illegible] [illegible] है। इन सभी टीकाओं से [illegible] न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं को विशेष [illegible]। आवश्यकता है कि [illegible] प्रमेयरत्नमाला का एक सुन्दर संस्करण निकल जाय। [illegible] इस पर ध्यान देना चाहिए।

---

१ देखें—A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Government Oriental Manuscripts Library, Madras PP 3975

गायत्री मन्त्र का जैन व्याख्यान

वैदिक दर्शन एवं धर्म में गायत्री मन्त्र को अत्यधिक प्रधानता दी गयी है। जो द्विज तीनों सन्ध्याओं में इस मन्त्र का जप नहीं करता है, वह पतित माना जाता है। ऋक् ३। ६२। १०, साम २। ६। ३। १०। १ और वाजसेनय ३, ३५। २२। ९ में यह मन्त्र आया है। छान्दोग्योपनिषद् ३। १२। १ में गायत्री की उपासना को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। ऋक् ३। ६२। १० तथा साम ६। १०। १ के भाष्यानुसार इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है—

'जो सविता हमारी धी शक्ति को प्रेरणा करते हैं, हमें उन्हीं सविता देव के प्रसाद से प्रशंसनीय अन्नादिरूप फल मिलते हैं।" वाजसनेय संहिता ३। ३५ महीधरभाष्य के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ निम्न है—

द्योतमानप्रेरक, अन्तर्यामी, विज्ञानानन्दस्वभाव, हिरण्यगर्भ या आदित्यरूप उपाधिधारी ब्रह्म के प्रार्थनीय, पाप तथा संसारबन्धननाशक तेज की चिन्ता करते हैं। वह सविता हमारी बुद्धि—सत्कर्मानुष्ठान को प्रेरणा करते हैं।

जो सवितृदेव हमें कर्म—कर्मेन्द्रिय अथवा धर्मादि विषयक बुद्धि की प्रेरणा करते हैं, हम उन्हीं सर्वान्तर्यामी, जगत्स्रष्टा, परमेश्वर, सबके सेवनीय, अविद्या तथा तत्कार्य नाशक और परब्रह्मस्वरूप ज्योति की चिन्ता करते हैं।

हम सवितृदेव की अविद्या और तत्कार्यनाशक उस ज्योति की चिन्ता करते हैं, जो हमारी कर्म या धर्मादि विषयक बुद्धि को चलाते रहते हैं।

जो सविता—सूर्यदेव हमलोगों के समस्त कार्यों में प्रेरणा किया करते हैं, उन्हीं जगत्प्रसिद्ध, द्योतमान्, पापनाशक, उपास्य तेजोमण्डल सूर्यदेव की उपासना या ध्यान करते हैं।

गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में काशीखण्ड एवं पद्मपुराण में कथाएँ भी उपलब्ध हैं। गायत्रीतन्त्र में इस मन्त्र की उपासना की विभिन्न मुद्राएँ बतलायी गयी हैं। जप-प्रणालियों का विस्तृत विवेचन भी इसी तन्त्र में किया गया है।

वैदिक ऋषियों के समान जैनाचार्यों और जैन विद्वानों ने भी इस मन्त्र का व्याख्यान किया है। जैन-सिद्धान्त-भवन आरा के एक गुटके में इस मन्त्र की निम्न-प्रकार व्याख्या उपलब्ध हैं। पाठक देखेंगे कि व्याख्याकार ने प्रत्येक शब्द का अर्थ कितने अनूठे ढंग से निकाला है तथा वैदिक देवों के स्थान पर इसे भगवान् आदिनाथ का स्तुतिपरक सिद्ध किया है।

मन्त्र—

ओं भूर्भुव स्वः। तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् आपो ज्योतीरसोमृत ब्रह्म। गायत्री मन्त्रोऽयम्।

ओं भू भुव स्व सवितु वरेण्यम्, भर्ग, देवस्य, धीमहि, धिय य न प्रचोदयात्, आप ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म इति पदविशेष।

भर्ग भृज्यति पचति दहति विनाशयति घातिकर्माणीति भर्ग—आदिपरमेश्वर इत्यर्थ। तदानीं तद्‌घातिरेवेण्याप्यस्य तथाविधसाम र्थ्यसमवात्।

स किं विशिष्ट इत्याकांक्षायामाह—

आपो ज्योतीरसोमृतमिति—

जगज्जीवनहेतुत्वात् परमशान्तत्वाच्च आप इति विशिष्यते। निखिलकर्मनिर्दहन दक्षत्वात् लोकालोकप्रकाशकत्वाच्च ज्योतिरिति प्रशस्यते।

लौकिकानां शास्त्रीयाणां च रसानां च प्रवर्तकत्वात् रस इति समाम्नायते। कारणे कार्यस्योपचारात् अथवा लोकोपकारकत्वात्। निष्कलङ्कत्वाच्च रस इति प्रस्तूयते।

जन्मजरामरणशोकादिनिवारणनिपुणत्वात् जगदानन्दहेतुत्वाच्च अमृतमित्य भिधीयते। आविष्टलिङ्गवचनास्त्वेते शब्दा तस्मात् सोपात्तलिङ्गवचनेन युज्यन्ति। तथाचोक्तम्—शृङ्गारप्रकाशिकायां पञ्चमप्रकाशे लिङ्गभेदनिरूपणप्रस्तावे—"विशेषणत्वेऽपि नियतसंस्कारादेभाविष्टलिङ्गमिति"।

आपो ज्योतीरसोमृत ब्रह्मेत्येतेषां पञ्चविशिष्टपदानां पाठक्रम।

तथाहि भगवान् प्रथममपां सृष्टिमकरोत्—"अप एव ससर्जादौ" इति वचनात्। अतो स्नानपानादि उपयोगप्रकार उद्दिष्टवानित्यर्थ।

तदन तरमग्नि उपयोगप्रकार ततो मधुरादिरसोपयोगोपाय तदनु गोदोहादिना क्षीरघृतादिसम्पादनम् तदनुभवप्रकार च। तदनन्तर ब्रह्मचर्याणुव्रतादीन् तत्सेवनविधान चोपदिष्टवानिति ब्रह्मशब्देनात्र ब्रह्मचर्यादिरुच्यते। अन्न ब्रह्मेति श्रुति।

एव गुणविशेषणविशिष्टो यो भर्ग। अस्माकं युगादौ वर्तमानमिति यावत्। धिय बुद्धिविशेषान् संसारिणां मुमुक्षूणां च संसारमोक्षविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिनियमरूपानित्यर्थ।

प्रचोदयात उपादिशदित्यर्थ। 'छन्दसि व्यत्ययो बहुलम्' इत्याख्यातप्रत्यय।

अत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध इति य छन्दसं छन्दोभपत्तने। तथावयवचनपञ्चमन्त सम्बध्यते। दधर्ति तस्य भर्गस्य, किं विशिष्टस्य भूर्भुवस्स्वसवितु अधोमध्योर्ध्व लोकानां प्र । पुन किं विशिष्टस्य देवस्य दीव्यति प्रकाशते पञ्चभि कल्याणै अष्टभि प्रातिहार्यैश्चतुस्त्रिंशतातिशयैरिति देव। नाथकरपरमदेव इत्यर्थ। तस्य

देवस्य एतद्विशेषणद्वयेन भगवान प्रथम लोकसृष्टि विधाय पश्चादार्हन्त्यपदं प्राप्तवानिति क्रमः सूचितो भवति। तस्य देवस्य वरेण्य श्रेष्ठ ओं ओंकारात्मकं ब्रह्मस्वरूपमिति यावत्।

"ओं" इत्येकाक्षर ब्रह्म इति श्रुते। अथवा ओं सद्यो ज्ञानः वामदेवः अघोर ईशानः तत्पुरुषात्मना वा आचार्योपाध्यायसाध्वर्हत्सिद्धात्मना वा पञ्चपरमेष्ठ्यात्मक स्वरूपम्। उक्तं च परमागमे—

"अरहंता असरीरा इति" पुनः किं विशिष्ट तत्स्वरूपमित्याहुः—भर्गोति वेदमय—ज्ञानमयं, तत्त्वमय, तपोमयं चेत्यर्थः।
"वेदस्तत्त्वं तपो भर्गः" इत्यभिधानात्।

अथवा भर्गेति परमोत्कर्षं गच्छन्त्यनन्तज्ञानादयो गुणा यस्मिन् परमात्म तद्-भर्गेत्युक्तलक्षणम्। भर्ग परमात्मस्वरूपदर्शनस्य।

अयमभिप्राय —

यो भर्ग भुक्तिमुक्तिमार्गानभिज्ञाना क्षुधादिबाधाभिरत्याभिनाक्रान्तानामस्माक भुक्तिमुक्तिमार्गानुपदिश्य लोकसृष्टि विधाय भय निवार्य नो रक्षितवान्। पश्चादा-र्हन्त्य प्राप्तस्य तस्य परमेश्वरस्य वरेण्यं ओं तत्सच्चिदानन्दमयं दिव्य स्वरूप चिन्तयामः —इति।

कृतजाः—ये कृतयुगादिमानवाः—गणधरदेवादयो भरतेश्वरादयश्च परमेष्ठिमय-प्रणवोद्भूतेन ब्रह्मतत्त्वसपूजन शिरोविरानमानेन तीर्थंकरसंख्यानम् सदानाय चतुर्विंशत्यक्षर वै गायत्री इति श्रुते।

उपासकाना परमस्थानप्रदानाय सप्तव्याहृतिधारिणा षड्द्रव्यभरितपट्कुक्षिभासुरेण रत्नत्रयैकसाध्यम्। कैवल्यमित्यभिज्ञापयितुं त्रैवर्णिकाभिजनिदाय रत्नत्रयाराधना-योग्यान्विदधता।

मन्त्रस्थचतुर्विंशत्यक्षराणां मध्ये एकमप्यक्षरं सकृदपि जपतो ध्यायतो वा निखिल-कर्मनिवृत्तिरखिलश्रेयः प्राप्तिश्च भवेत्। सर्वमन्त्रमेकाग्रचेतसा अर्थानुसन्धानेन जपतां ध्यायता च सर्वार्थसिद्धयः सिध्यन्तीति किमाश्चर्यम्।

इत्येवमचिन्त्यप्रभावान्वितेन सर्वसत्कर्माङ्गभूतप्राणायामप्रवर्तकेन तीर्थंकरदेवेन वृषभसेनादिगौतमान्त्यगणेशमहर्षिणा गायत्रीछन्दसा गायत्रीस्तमाख्यानेन दिव्यमन्त्रेण तं आदिब्रह्माणं तुष्टुवुरिति। सक्षेपेण मन्त्रार्थः।

इस व्याख्या से निम्न निष्कर्ष निकलते है—

१—घातिया—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय कर्मों का नाश करनेवाले इस युग के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान् जो जन्म मरण, जरा क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित हैं, जिन्होंने इस युग के आदि—कर्म भूमि के आरम्भ में जल, अग्नि, अन्न, खेती आदि के उपयोग करने की विधि बतलायी और कुलकर होने के कारण कर्मभूमि के समस्त कृत्यों का विवेचन करने से जो आदिब्रह्मा कहलाये तथा विरक्त होकर तपस्या कर आठ प्रतिहार्यों तथा ४६ मूलगुणों से युक्त हो तीर्थंकर हुए और जिन्होंने कल्याणमार्ग का उपदेश दिया, अन्त में परमपद निर्वाण स्थान प्राप्त किया उन परमब्रह्म आदि परमेश्वर—आदिनाथ या ऋषभनाथ की उपासना करते हैं। इन आदिब्रह्म से ही हम शुभ कर्मों की प्रेरणा प्राप्त होती है तथा इन्हीं के उपदेश से हमारे दुःख—जन्म जरा, मरण आदि दूर होते हैं।

२—ओम्—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु पंचपरमेष्ठी, भूः—सर्वश्रेष्ठ भुवः—जन्म जरा, मरण आदि दुःखों से छूटने का रत्नत्रयमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप मार्ग के तथा संसार और मोक्ष के प्रवृत्ति, निवृत्ति मार्ग के उपदेष्टा, स्वः—शुद्धोपयोग में स्थित तत्—उस आत्मा वाचक पञ्चपरमेष्ठी को, जो सवितुः—हिताहित का मार्ग बतलाने के कारण त्रिलोक के लिए सुखदायक हैं, वह वरेण्यम्—उपासना योग्य हैं। भर्गः—रागादि दोषों से दूषित हमलोगों के लिए प्रतिपादित कल्याणमार्ग को देवस्य—तीर्थंकर देव के, धीमहि—धारण करते हैं उन तीर्थंकरदेव-आदिनाथ-ऋषभनाथ के उपदेश से, नः—हमारी, धियः बुद्धि, प्रचोदयात्—सत्कृत्यों में—राग द्वेष से रहित शुद्धोपयोग के मार्ग में प्रवृत्त—प्रेरित हो अर्थात् पंचपरमेष्ठीस्वरूप आदि ब्रह्म श्री ऋषभनाथ के भक्तिप्रसाद से हमारी बुद्धि राग द्वेष के मार्ग से दूर हटकर शुद्धोपयोग के मार्ग में लगे।

३—जिन आदिनाथ—ऋषभ भगवान् ने संसार और मोक्षमार्ग से अनभिज्ञ, क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण आदि के दुःख से पीड़ित हमलोगों के लिए संसार और मोक्षमार्ग का उपदेश दिया, कर्मभूमि के आदि में उत्पन्न प्राणियों को असि मषि, कृषि सेवा, शिल्प और वाणिज्य रूप कर्म का मार्ग बतलाया तथा कर्मभूमि के आदि में सूर्य चन्द्र ताराओं के देखने से उत्पन्न हुए भय को दूर किया और हमारी रक्षा की। पश्चात् अर्हन्तपद प्राप्तकर सच्चिदानन्दमय दिव्यरूप मोक्षको प्राप्त किया, उनकी हम उपासना करते हैं। इन आदिनाथ परमब्रह्म से ही हमारी बुद्धि को रत्नत्रयमार्ग की ओर जाने की प्रेरणा प्राप्त होती है अथवा इन्हीं परमब्रह्म से हमें कल्याणमार्ग, जो चैतन्यमय विवेक का मार्ग है, शाश्वत है, दिव्य है, राग द्वेष से रहित है और समस्त दुःख—संकटों से छुड़ानेवाला है, की प्राप्ति होती है।

इस आदिनाथ वाचक गायत्री मन्त्र मे २४ अक्षर हैं, इनमे से एक भी अक्षर का जो एक बार जप या ध्यान करता है वह समस्त कर्मों से निवृत्ति प्राप्त कर लेता है और सभी प्रकार के कल्याण उसे प्राप्त होते हैं। समस्त मन्त्र का एकाग्रभाव से अर्थस्मरणपूर्वक जो ध्यान या जप करता है, उसके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। जैसे णमोकारमन्त्र पञ्चपरमेष्ठीवाचक है, उसी प्रकार यह मन्त्र भगवान् आदिनाथ का वाचक और समस्त विघ्न बाधाओं को दूर करनेवाला है। इस मन्त्र में आदि परमेश्वर के समस्त गुणों का निरूपण किया गया है, यह आदि परमेश्वर इस कर्मभूमि के आदिप्रवर्तक हैं, स्वयम्भू हैं-स्वयं सिद्ध हुए हैं, आत्मा की साधना की है, सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म हैं। इनकी भक्ति या उपासना से हमारी प्रवृत्ति सर्वदा शुभ कृत्यों की ओर होती है।

जैनसिद्धान्त भवन, आरा
२-७-५३

षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयानुप्रवेशः

कर्ता—आचार्य शुभचन्द्रदेव

साधनं सम्यग्ज्ञातं यज्ज्ञानं तच्चतुष्टयम् ।
त्रैलोक्ये यस्य साम्राज्यं तस्मै तीर्थकृते नमः ॥

सकलतर्कदर्शनाभिमतप्रमाणप्रमेयानुप्रवेशार्थमिदं । तत्र तावदनन्तोऽप्रतिहतज्ञाननस्य तत्त्वज्ञानं प्रमाणं । तद्द्विविधं प्रत्यक्षं परोक्षं च । स्पष्टमास्पष्टम् यत् । त्रिधा च सकलेतरप्रत्यक्षपरोक्षभेदात् । करणक्रमव्यवधानातीतं सकलप्रत्यक्षं । क्रमाश्रित करणक्रमव्यवधानातीतं विकलप्रत्यक्षं । इन्द्रियमनोव्यापाराभिमुखेतरापेक्षं परोक्षं । अथवा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलभेदात् पञ्चविधं । तत्रेन्द्रियैर्मनसा चार्थग्रहणं मतिज्ञानं । व्यवहारतः प्रत्यक्षं वस्तुतः परोक्षं । शब्दश्रवणादेरर्थान्तरप्रवृत्तिः शब्दवस्तुविषयं श्रुतं परोक्षं । मूर्ताशेषार्थाधिगमोऽवधिः विकलप्रत्यक्षं । मनसा परकीयमनोगतार्थसाक्षात्कारी नरक्षेत्रविषयी मनःपर्ययोऽपि विकलप्रत्यक्षं । एतत्सर्वं क्रमप्रवृत्तं । द्रव्यगुणपर्यायान्वितत्रिकालवस्त्वशेषवस्तुक्रमव्यापि केवलं सकलप्रत्यक्षं । संशयविपर्ययानध्यवसायाः मतिश्रुतावधिरहितं प्रमाणाभासं । प्रमाणगृहीतार्थैकदेशव्यवसायो नयः । स च द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभेदात् द्विविधः सप्तधा वा । नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात् । नैगमसंग्रहव्यवहाराः द्रव्यार्थिकाः । कुतः द्रव्यप्रतिपादनपरत्वात् । इतरे पर्यायार्थिकाः । कुतः पर्यायप्रधानत्वात् । कः प्रमाणनययोर्भेद इत्येवाह—स्याद्वादेकान्तापेक्षया सकलादेशः प्रमाणं अविकलाशेषधर्मग्रहणात् । स्याद्वादेकान्तापेक्षया विकलादेशो नयः नियतदिक्कथनात् सर्वथैकान्तादेशो दुर्नयः अर्थक्रियाकर्तृत्वाभावात् । प्रमाणवाक्यमेव सप्तधा आह । तद्यथा—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्ति चावक्तव्यं च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च । प्रमाणवाक्यमेतत् ।

कथं सप्तभङ्गी निवृत्तिरित्याह । स्वद्रव्यादिस्वरूपेणास्ति, परद्रव्यादिरूपेण नास्ति, स्वपरद्रव्यादिरूपेणास्ति नास्ति च । सहानुक्तेरवाच्यं । स्वद्रव्यादिसहानुक्तेरस्त्यवाच्यं । परद्रव्यादिसहानुक्तेर्नास्त्यवाच्यं । स्वपरद्रव्यादिसहानुक्तेरस्तिनास्त्यवाच्यं एवं संशयविरोधवैयधिकरण्यसंकरव्यतिकरानवस्थाभावादिदोषप्रसङ्गाभावः । तथा स्यादस्त्येव । स्यान्नास्त्येवेत्यादि नयवाक्यं । स्यात्पदालम्बनाभावे दुर्नयवाक्यं सर्वथास्त्येव सर्वथा नास्त्येवेति । तत एवं प्रमाणैरधिगमो नयैर्व्यवहारो दुर्नयैस्तद्विलोपनमिति । एवमस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्वपृथक्त्वापृथक्त्वनित्यानित्यत्वपरिणामित्वापरिणामित्वप्रमेयत्वादिधर्मानन्तधर्मात्मकं यो द्रव्यास्तिकायपदार्थः प्रमेयं ।

तत्र द्रव्यं षड्विधं—जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालाः । कथं लक्ष्यत इति चेत् उपयोगलक्षणो जीवः । तत्र ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीवः । स द्विविधः प्रत्येकमाह—अनादिनिधनो जीवो ज्ञाता द्रष्टा च कारकः । पुद्गलाद्भिन्नोऽमूर्तः मोक्षं च कर्माणि तपस्याग । यथाविमुक्तोऽपुत्पत्त्य पदार्थ ।

अथ वैशेषिके प्रत्यक्षलैङ्गिके प्रमाणे । तत्रार्थेन्द्रियमनोसंनिकर्षादुत्पन्ना बुद्धिः प्रत्यक्षं । तदुत्पत्ति-क्रममाह—आत्मेन्द्रियेणेन्द्रियं मनसा मनोऽर्थेन यदा प्रत्यपते तदोत्पन्ना स्पष्टप्रतिभासस्वभावा बुद्धिरेव प्रत्यक्षं । यथा घटपटादिस्तम्भाशङ्कुशाखाद्यर्थविज्ञानं तथा लैङ्गिकं । अस्येदं कार्यकारणसंयोग्येकार्थ-समवायविरोधीति तथोच्यते—दृष्टे. नदीपूरः कार्यं, मेघोन्नतिः कारणं । संयोगी द्विधा—संयोगे समवाये च । यथाग्नेर्धूमो संयोगी । द्विधैकार्थसमवायि कार्यं कार्यस्य कारणं कारणस्य च । यथा—स्पर्शनकार्यस्य रूपदर्शनं लिंगं । पाणिपुष्टस्य प्राणिदर्शनं लिंगं । विरोधि चतुर्विधं अभूतं भूतस्य । भूतमभूतस्य । भूतं भूतस्य । अभूतम् अभूतस्य । तत्राभूतवर्षकर्म भूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य लिंगं ।

भूतं वर्षकर्माभूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य लिंगं । भूतघटाख्यो भूताग्निवदघटस्य लिंगं । अभूतघटपाकोऽभूताग्नि घटसवर्णस्य लिंगं । किमेतावदेव लिंगानीत्याह—अगस्त्यादयो जलप्रसादस्य लिंगं । समुद्रवृद्धेश्चन्द्रोदय । कुमुदविकाशस्य चैत्रावाप्युक्तं । अथ प्रमेयं । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषस-मवाया पदार्थाः प्रमेयं तत्र द्रव्य—पृथिव्यप्तेजोवायु—आकाशकालदिगात्ममनश्चेति । अत्र-शब्दाकारप्रतिनियतद्रव्यमसमवायवधा अनित्याः स्वतो निर्गुणा गुणाः । रूपरसगंधस्पर्शसंख्या-परिमाणपृथक्त्वापृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वभुतिकर्मशब्दयोगनयानां गतयाविरोधिवुद्धिसुखदुःखे-च्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारेतोदशानक्रमप्रकृतयो गुणपदार्थाः । साधारणेतरभावेन पृथिव्यादिषु द्रव्येषु योज्याः । उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणदेशान्तरप्राप्तयः कर्मपदार्थाः । परमपरं च सामान्य । पर महासत्ता कुतो द्रव्यगुणकर्मसु सादृश्यानुप्रवृत्तिकारणत्वात् । अवान्तरसामान्यमपरं कुतो द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वानां द्रव्यगुणकर्मस्वेव सम्भवादिति सामान्यपदार्थाः । नित्यद्रव्यारंभकारिणः परस्परात्यन्तव्यवच्छेदकारिणोऽन्त्याः पर्यायाः विशेषाः । किं तन्नित्यकारणद्रव्यं चेत् पृथिव्यप्ते-जोवायुपरमाणवः तेश्चतुर्भिरारब्धाः घटादयो विशेषपदार्थाः । इहेदमस्त्वायमित्यभेदप्रत्ययहेतुरयुत-सिद्धानामाधाराधेयकार्यकारणादिसमवायिना समवायः नित्यनिरवयवामूर्तानिष्क्रियः सर्वगतं इति कणवैशेषिकदर्शनानुप्रवेशः ।

मीमांसकप्रवादे प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यभावाः प्रमाणानि । तत्स-प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां या बुद्धिः तत्प्रत्यक्षनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् । तत्पूर्वकमनुमानं । सादृश्यनिबन्धनमुपमानं, अन्य विपगो गो गवय सादृश्योपलब्धौ गोवदयं गवय इति । स्वयंभूत्वाद्यनिवद्धो वेदः शब्दः प्रमाणं । दर्शनश्रवणाभ्यां अर्थान्तर विज्ञानं अर्थापत्तिः । यथा भस्तदर्शनादग्ने दहनशक्तिः । अर्थादापन्ना श्रवणाद्यथास्थूलपीनाङ्गो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते अर्थात् रात्रौ भुंक्ते इति प्रत्यक्षादि । निवृत्तिरभावप्रमाणं । तत्त्रिविधं प्रमाणपंचक-निवृत्तिरात्मा न ज्ञानरहिता वा तदन्यज्ञानं वा । यथनास्ति सर्वज्ञः प्रमाणपंचकनिवृत्तेः । आत्मा न सर्वज्ञात् ग्राहकज्ञानरहितत्वाद् । तद्विविक्तसकलदेशोपलंभात् । क्षित्या विवक्षितघटाभाववत् खरविषाणवद्वा । किं पुनः प्रमेय—आत्मशरीरेन्द्रियार्थद्वन्द्वानुपरतसंसार

पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशस्वभस्वर्गा प्रमेय । अथातो धर्मजिज्ञासा । वेदस्याध्ययनानन्तर धर्मपरीक्षा कर्तव्या । कुतश्चेदतश्चोदनात् एव धर्मो परीक्ष्यते, नाद्यादिभिस्तदविषयत्वात् । यथाग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम पशुकामो वा । श्वेतकमजमालमेत स्वर्गकाम । अश्वमेधेऽश्व हन्यात् । गोमेधे गा हन्यात् । पुरुषमेधयागे हस्तिन हन्यात् । पितृमेधे पितर हन्यात् । मातृमेधे मातर हन्यात् । राजसूये राजान हन्यात् । सर्वमेधे सर्वप्राणिनो हन्यात् । उक्तञ्च —

यज्ञार्थं पशव सृष्टा स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
शान्तोभूत्यै हि सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवध ॥
ये हन्यतेऽत्र यज्ञेहि होतारश्च विशेषत ।
ते सर्व स्वर्गमुप यान्ति इत्येष चोदनागति ॥

अतश्चोदनालक्षणो धर्म इति जैमिनिमतम् ।

चार्वाकराद्धान्ते प्रत्यक्षमेव प्रमाण तदपि भूतविकारविशेषानधिगतार्थाधिगमलक्षण पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति प्रमेय भूतसमुदया शरीरेन्द्रियविषया तेभ्यश्चैतन्य जलबुद्बुदवत् जीवा । इति चार्वाकमतानुप्रवेश । इति षड्दर्शनप्रमाण प्रमेयानुप्रवेश । जयति शुभचन्द्रदेव कण्णूर गुणपुष्कर कुम्भिदलनहरि । कुसुमशरदर्पहर हरतपोधिपतिर्गणपति ॥ नमो माणिक्यनाथाय नाकनाथार्चितांघ्रये ॥

निमर्श प्रापयत्येतत्तन ऋत्वा समाहितम् ।
चेतस्त्व यस्य शुभ्यस्य भागावद्ये परिस्फुरम् ॥

तत्र नैयायिकैस्तावत् देवकन्हिलोऽवलिनिर्दिष्टमार्ग । यदुत प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां षोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम । तत्राथोपलब्धिहेतु प्रमाण तच्चतुर्धा । तद्यथा प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्द । तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानम व्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष । तत्पूर्वक त्रिविधमनुमान । तद्यथा पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टञ्च । तत्र पूर्ववत्कारणात्कार्यानुमान । यथा—विशिष्ट मेघोन्नतेर्भाविनी वृष्टिरिति । शेषवत्कार्यात्कारणानुमान यथा विशिष्टनदीपूरदर्शनादुपरि वृष्टो देव ।

सामान्यतो दृष्ट नाम यथा देवदत्तस्य गतिपूर्विका देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्य दिनकरेपि सा गति पूर्विकैव समधिगम्यत इति प्रसिद्ध । साधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमान । यथा गौस्तथा गवय । आप्तोपदेश शब्द आगम इत्यर्थ । तथा आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदु खापवर्गास्तु प्रमेय । किं स्वादित्यनवधारणात्मक प्रत्यय संशय । किमयं स्थाणु स्यादुत पुरुष इति । येन प्रयुक्त प्रवर्तते तत्प्रयोजन अविप्रतिपत्ति विषयापन्नार्थो दृष्टान्त । सिद्धान्तश्चतुर्विध तद्यथा—सर्वतन्त्रसिद्धान्त, प्रतितन्त्रसिद्धान्त, अधिकरणसिद्धान्त, अभ्युपगमसिद्धान्तश्चेति ।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणमुपनयनिगमनान्यवयवाः । संशयादूर्ध्वं भवितव्यता प्रत्ययस्तर्कः । यथा भवितव्य-
मत्र स्थाणुना पुरुषेण वेति । संशयतर्काभ्यामूर्ध्वं निश्चितप्रत्ययो निर्णयः । यथा पुरुष एवाय
स्थाणुरेवेति । तिस्रः कथाः । वादजल्पवितंडाः । तत्र शिष्याचार्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण
ऽभ्यासख्यापनाय वादः । कथाविजिगीषुणा सार्धं छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ।
स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितंडा । अनैकान्तिकादयो हेत्वाभासाः । नवकम्बलो देवदत्तः इत्यादि
छल । दूषणाभासास्तु जातयः । निग्रहस्थानानि पराजयवस्तूनि । तद्यथा प्रतिज्ञाहानि । प्रतिज्ञान्तरं
प्रतिज्ञाविरोधः । प्रतिज्ञासन्यासः । हेत्वन्तर । अर्थान्तर । निरर्थक । अविज्ञातार्थक । अपार्थक ।
अप्राप्तकाल । न्यून । अधिक । पुनरुक्त । अननुभाषण । अज्ञान । अप्रतिभा । कथाविक्षेपः ।
योज्यानुयोगः । अपसिद्धान्तः । हेत्वाभासाश्चेति निग्रहस्थानानि । तदेते प्रमाणादयः षोडशपदार्थाः,
इति नैयायिकदर्शनसमासः ।

वैशेषिकैः पुनरयं तत्त्वपरिकलितो निर्वृतिनगरीगमनमार्गः । यदुत द्रव्यगुणकर्म-
सामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां तत्त्वपरिज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः । सा हि
निर्वृतिर्निःश्रेयसरूपा । तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशकालदिगात्ममनांसि इति नवद्रव्याणि । रूपरस
गंधस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारगुरुत्व
द्रवत्वस्नेहवेगशब्दा इति चतुर्विंशतिर्गुणाः ॥ उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुंचनं प्रसारणं गमनमिति
पंच कर्माणि । सामान्यं द्विविधं परमपरं च । तत्र परं सत्तालक्षणं । अपरं च द्रव्यत्वादि ।
नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः । अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानां यः संबंधः इहेदं प्रत्ययहेतुः स
समवायः । प्रत्यक्षलैङ्गिके द्वे एव प्रमाणमिति वैशेषिकदर्शनसमासः ।

सांख्यैस्तु तत्त्वनिपुणबुद्ध्या परिकलितोऽयं निर्वृतिनगरीमार्गो यथा । यदुत पंचविंशतितत्त्वपरिज्ञाना-
न्निःश्रेयसाधिगमः । तत्र त्रयो गुणाः सत्त्वं रजस्तमश्च । तत्र प्रसादलाघवप्रसवानभिष्वङ्गाद्वेषप्रीतयः
कार्यं सत्त्वस्य । शोकतापस्वेदस्तंभोद्वेगप्रद्वेषाः कार्यं रजसः । मरणसाधनदीपत्वदैन्यगौरवाणि तमसः
कार्यं । ततः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । सैव प्रधानमित्युच्यते । प्रकृतेस्तु महानाविर्भवति
बुद्धिरित्यर्थः । बुद्धेरहंकारः । ततोऽहंकारादेकादशेन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि । स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः-
श्रोत्ररूपाणि पंच कर्मेन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थलक्षणानि मनश्चाविर्भवति । तथा तत
एवाहंकारात्तमोबहुलात्पंचतन्मात्राणि स्पर्शरसरूपगंधशब्दलक्षणान्याविर्भवंति । तेभ्यश्च पृथिव्यादीनि
पंचभूतानि । एषा चतुर्विंशतितत्त्वात्मिका प्रकृतिः । तथा परमपुरुषश्चैतन्यस्वरूपः । स चानेको जन्म-
मरणकरणानां नियमदर्शनात् । धर्मादिषु प्रवृत्तिनानात्वाच्च प्रकृतिपुरुषयोश्चोपभोगार्थः । संयोगः
वन्धयोरिव उपभोगश्च शब्दाद्युपलंभः पुरुषान्तरोपभोगश्च प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । इति
सांख्यदर्शनसंक्षेपार्थः ।

यथा वैशेषिकस्य बौद्धं प्रति गुणादिसमवायिकारणमात्मेति । उक्तोऽपि प्रसिद्धसम्बन्ध-
पक्षसमर्थनोपायो हेतुः । असिद्धविरुद्धानैकान्तिका हेत्वाभासाः । तत्रोभयान्यतरसन्दिग्धाश्रयासिद्धाः ।
अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादुभयासिद्धः । अनित्यः शब्दः कृतकत्वादन्यतरासिद्धः । बाष्पादेः सन्दिग्ध-
धूमप्रविभागाद्वह्निरत्रेति सन्दिग्धासिद्धः । द्रव्यमाकाशं गुणाश्रयत्वादाश्रयासिद्धः । धर्मधर्मिस्वरूप-
विपरीतसाधना विरुद्धा हेत्वाभासाः । नित्यः शब्दः कृतकत्वात् धर्मस्वरूपविपरीतसाधनः । न द्रव्यादि-
भावो द्रव्यादिमत्त्वात् सामान्यविशेषवत् । धर्मिस्वरूपविपरीतसाधनः । अन्याधारमनुरादय ।
यथातत्राऽऽश्रयनाशनाशवत् । धर्मविशेषविपरीतसाधनः न द्रव्यादिभावो द्रव्यादिमत्त्वादिषयमेव
धर्मिणो प्रत्ययकर्तृत्व धर्माद्धर्मिविशेषविपरीतसाधनः । साधारणासाधारणपक्षैकदेशवृत्ति
विपक्षव्यापि उभयपक्षैकदेशवृत्ति विरुद्धाव्यभिचारिणो नैकान्तिकाः । नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्
साधारणः । अप्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः अनित्यत्वात् । विद्युदाकाशादिषु सपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापि
प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः अनित्यत्वात् घटवत् विपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षव्यापि । नित्यः शब्दः
अमूर्तत्वात् सुखाकाशादिषु उभयपक्षैकदेशवृत्तिः । अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवन्नित्यो वा
श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति विरुद्धाव्यभिचारी । पक्षे हेतुवचनोपायो दृष्टान्तः । साधनो-
भयाश्रयधर्मासिद्धविपरीतान्वयसाधर्म्यदृष्टान्ताभासाः । नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् बुद्धिवदिति
साध्यधर्मासिद्धः । नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् परमाणुवदिति साधनधर्मासिद्धः । नित्यः शब्दः
अमूर्तत्वात् घटवदिति उभयधर्मासिद्धः । नित्यः शब्दः कृतकत्वात् परमाणुवदित्याश्रयधर्मासिद्धः ।
कृतकः शब्दः अनित्यत्वात् घटवदिति विपरीतान्वयः । साध्यसाधनोभयाव्यावृत्ता व्यतिरेकविपरीत-
व्यतिरेका वैधर्म्यदृष्टान्ताभासाः । नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् परमाणुवत् इति साध्याव्यावृत्तः । नित्यः
शब्दः अमूर्तत्वात् कर्मवदिति साधनाव्यावृत्तः । नित्यः शब्दः अमूर्तत्वादाकाशवदित्युभयाव्यावृत्तः ।
अनित्यः शब्दः मूर्तत्वात् घटवदिति अव्यतिरेकः । मूर्तः शब्दः अनित्यत्वादाकाशवदिति
विपरीतव्यतिरेकः । साधनदोषोद्भावनं दूषणं दूषयितुमसमर्थं दूषणाभासः । इन्द्रियतदर्थमनःसंयो-
गादयोऽपरानि प्रमेयप्रसिद्धावप्युपादेय । यथा यागाद्य । समागमाद्यतानानातत्त्वका
रूपरसगन्धस्पर्शादिविज्ञानपञ्चकाश्रयभूतं शरीरं । रूपरसगन्धादिवेदना सुखदुःखादि-
रूपा मनःसंस्कारचतुष्टयो वर्तमान विज्ञानम् । इन्द्रियसमाविष्टमनोवाक्कायवृत्तिः संस्कारः ।
स त्रिविधः । उक्तम्—

संस्कारस्त्रिविधः प्रोक्तो मनोवाक्कायभेदतः ।
कुशलाकुशलतोऽप्यत्र प्रमेयं त्रितयं ?

मिथ्यादर्शनतृष्णादयो मनःसंस्काराः । अनृतपैशुन्यादयो वाक्संस्काराः । हिंसा-
स्तेयाब्रह्मादयः कायसंस्काराः अशुभाः । तदन्ये शुभाः । एवं त्रिविधाः संस्काराः । एतत्स्वभावा-
विमल घटा म[illegible] । प्रदीपनिर्वाणवत् । स च ...

तिसमादिशुभाष्टागभावनातो लभ्यते । वैभाषिकः । सौत्रान्तिकः । योगाचारः । माध्यमिकाश्चत्वारो बौद्धाः । तेषु त्रयाणा मोक्षकल्पना । माध्यमिकस्य नास्ति सर्वशून्यत्वात् । नास्तीति विनष्टत्वान्नाप्युत्पन्नोप्यसभवात् । उभयाभावनो मध्ये मिथ्यैव कल्पना ॥

इति सौगतमतानुप्रवेशः कपिलस्य प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाण तत्रेन्द्रियमनोवृत्तिः प्रत्यक्ष। वृत्तिरर्थाकारपरिणतः । चक्षुरादीना वर्णाद्यर्थपरिच्छेदबुद्धिपूर्वकाप्रवृत्तिः प्रत्यक्षमिति यावत् । संवधाविनाभाविप्रत्यक्षादर्थान्तरविज्ञानमनुमान । यथा धूमादिदर्शनादग्न्यादिविज्ञान, आप्तः कपिलमुनिः तेनोपदिष्टः आगमः शब्दः प्रमाण । यथावस्थितार्थात्संशयविपर्ययानध्यवसायप्रतीतिः प्रमाणाभास । अथ प्रमेय । प्रकृति पुरुष तत्सयोगा, पदार्थाः प्रमेय । प्रकृतिरचेतनाचेतनावनो दाधीत्य नेनात्मानं प्रयोजयेत् । तत्सगतिः सृष्टिः । तदाप्रकृतेर्महदादयः । पुरुषस्य साक्षित्वादयो धर्मा उत्पद्यन्ते । तद्यथा प्रकृतेर्महदादयः । पुरुषस्य साक्षित्वादयो धर्मा उत्पद्यन्ते । तद्यथा प्रकृतेर्महान् स चाष्टधाबुद्धिः । धर्माधर्माज्ञानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्यात्मिका । अतोहंकार । स च सत्वरजस्तमोमयः । तस्मात्षोडशको गणः हस्तपादगुदावाक्उपस्थकर्मेन्द्रियाणि । चक्षुश्रोत्रघ्राणत्वग् जिह्वाबुद्धीन्द्रियाणि । मनः एतानिकादशेन्द्रियाणि । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तन्मात्राणि । इमे षोडशगणा अहंकारादुत्पद्यन्ते । तत्र तन्मात्रेभ्यो यथाक्रममाकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो महाभूतानि जायन्ते । इति प्रमेयो विंशतिः प्रकृतिविकाराः । का प्रकृतिश्चेत् सत्वरजस्तमसा साम्यावस्थाप्रकृतिः । तथा साक्षित्वकैवल्यमाध्यस्थ्यद्रष्टत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वभावाश्च पुरुषाज्जायन्ते । सृष्टिरुत्पत्तिक्रम. क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकबुद्धिमन्तरेणप्रकृत्युपसंहारः प्रलयः तत्पूर्वकोपुद्गल । जीवपुद्गलयोर्देशान्तरप्राप्तिलक्षणो धर्म. । तयोरवस्थान प्रतिस्थितिलक्षणोऽधर्मः । सकलद्रव्यावगाहनलक्षणमाकाश । परिणामिद्रव्य प्रतिवर्तनालक्षणः काल. । कालद्रव्यरहिता निसर्गप्रचयबन्धविशेषविशिष्टा जीवादयोऽस्तिकायाः । जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाः पदार्था. । ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव । तद्व्यतिरिक्तः पुद्गलादिरजीवः । शुभाशुभपरिणामोपात्तपुद्गलस्कन्धविशेषः पुण्यपापौ । मनोवाक्काययोगप्रवृत्तिरास्रव. । तन्निरोध संवर । उदयोदीरणापायात्कर्मण विकीरण निर्जरा । अकर्मरूपस्थितपुद्गलविशेषस्य प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशतिर्बन्ध. । सकलकर्मापायादनन्तज्ञानादिगुणप्रादुर्भावावस्थान मोक्ष । प्राक्प्रध्वंसेतरेतरात्यन्तात्मका जीवादयः पदार्था. । परस्परतः सामान्यविशेषव्यावृत्ताव्यावृतविरुद्धाविरुद्धधर्मापेक्षित्वाद्विश्वस्य । तत्र नाना कालैकद्रव्यव्यक्तिगतान्वयसद्भावः सामान्य । नानाद्रव्यैककालव्यक्तिगतान्वयस्सादृश्यसामान्यं । स्थूलपर्यायाद्यविभागपरिच्छेदपर्यस्तानेकक्षेत्रादकविनश्वराः । प्रतिनियतद्रव्यजा व्यतयो विशेषाः । परद्रव्यादेर्व्यावृत्त स्वद्रव्यादेरव्यावृत्त । सहानवस्थानपरस्परपरिहारलक्षणविरोधात् विरुद्ध । ततः साधारणेतरसामान्यादि धर्मापेक्षयाऽभावचतुष्टयात्मक वस्तु । यथा कुमारस्यबालत्वेऽभावः प्रागभावः । वृद्धत्वेऽभाव. प्रध्वंसाभाव. । बालकुमारवृद्धत्वानां युगपदभाव. इतरेतराभावः । त्रिष्वपिकालेषु चेतनत्वेनाभावोऽस्य

अभाव । द्रव्यपर्यायापेक्षया स्याद्वादान्यतरो रत्नत्रयमिदं । इति स्याद्वादानुप्रवेश शाक्यमुने
प्रत्यक्षानुमाने प्रमाणे तद्द्विनय सम्यग्ज्ञान । तत्राद्य कल्पना

बौद्धे पुनर्मद्गारिकल्पितेव निर्वृत्तिनगरी वर्तते । यदुक्तमन्यत्र एतानि प्रमेयाणि । तद्यथा पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चशब्दादयो मनोधर्मायतनं च धर्मसुखादयो विशेषा । प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे ।
इति बौद्धदर्शनसमासः ।

अथ वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकभेदान् चतुर्विधा बौद्धा भवन्ति ।
तत्र वैभाषिकमतमिदं । यत्रैतत् क्षणिकं वस्तु । तद्यथा—जातिर्जनयति । स्थिति
स्थापयति । विनाशो नाशयति । तथात्मापि तथाविध एव । पुद्गलाख्यानामाभिधीयते । सौत्रान्तिकमतमिदं । रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराख्यशरीरिणामेते पञ्चस्कन्धा विद्यन्ते । न पुनरात्मनि ।
त एव हि परलोकगामिन । तथा क्षणिकाः सर्वसंस्काराः स्वलक्षणं परमार्थः अन्यापोहः शब्दार्थः ।
सन्तानोच्छेदो मोक्ष इति । योगाचारमतमिदं विज्ञानमात्रमिदं भुवनं न विद्यते । बाह्योऽर्थः वासना
परिपाकतो नीलपीताद्यनेकभासं विज्ञानं सर्वज्ञानाधारभूतं आलयविज्ञानं विशुद्धस्थानगं ।
इति । माध्यमिकदर्शने तु सर्वमिदं शून्यं स्वप्नप्रतिभासं प्रमाणप्रमेयविभाग । मुक्तिस्तु
शून्यदृष्टेस्तदर्थं शेषभावना इति बौद्धविशेषाणां सङ्क्षेपः । लौकायतिके पुनर्यत्रैषा
निर्वृतिनगरी नास्तीति प्रज्ञापितं । यतोऽमी ब्रुवते नास्ति निर्वृत्तिः, नास्ति जीवो, नास्ति परलोको
नास्ति पुण्यपापामत्यादि । किं तर्हि पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि । तत्समुदयात् शरीरेन्द्रिय
विषय संज्ञा । तेभ्यश्चैतन्यं । मदशक्तिवत् । जलबुद्बुदवज्जीवाः प्रवृत्तिनिवृत्ति-
साध्या प्रीति पुरुषार्थः । स च काम एव । नान्यो मोक्षादि । तस्मान्नास्त्यदृष्टं यादृक्तत्त्व
मपि । दृष्टहान्यदृष्टकल्पना समस्तदिति प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं । इति लोकायतमतसमासः ।
मीमांसकानां पुनरेव मार्गो यदुत वेदपाठानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्या । यतोऽत्रैवं ततस्तस्य
निमित्तपरीक्षा । निमित्तं च चोदना यदुक्तं । चोदना लक्षणो धर्म । चोदना च क्रियायाः
प्रवर्तकं वचनं । यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम । इति । तेन धर्मो लक्ष्यते । नान्येन प्रमाणेन प्रत्यक्षादीनां विद्यमानोपलम्भकत्वादिति । प्रत्यक्षानुमानशब्दोपमानार्थापत्त्यभावाः षड् प्रमाणानीति
मीमांसकानामाचार्यानुगमात् । नित्यादिदेवताद्यभावादिकालिकदार्शनिकसमयनिरपेक्षः पञ्चविंशति
तत्त्वपैतन्यमात्रमेयावस्थानं मुक्ति इति सांख्यमतानुप्रवेश ।

अक्षपादाभिमतमाह । यथार्थानुभव हेतु प्रमाणं हेयोपादेयोपेक्षणीया अर्थाः । तत्कारणं
बुद्धिरालम्ब्य । बुद्ध्यर्थसंयोगहेतु प्रमाणं । तच्चतुर्विधं । प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात् ।
तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणं । इन्द्रियाणि
चक्षुरादीनि प्राप्यकारीणि उभयसन्निकर्षादुत्पन्नं प्रत्यक्षं । क्वचिद्व्यभिचारदर्शनादव्यभिचारीति

वचन तेन मृगतृष्णाम्भो द्विचन्द्रदर्शनादिनिषेधेनविशेषनिश्चयस्वभाव व्यवसायात्मकं । यतः स्पर्शनेन्द्रियेण कर्कशोनत्वविशेषनिश्चयः लब्धपदेशमित्यनेन भूभगांगुलिच्छेदादे प्रत्यक्षत्वाभाव. । सुखादिव्या-वृत्यर्थं ज्ञानमितितस्मादिन्द्रियार्थसंबन्धोत्पन्नादिलक्षणमेव प्रत्यक्ष । ततोनुमानं । कार्य्येतरसामान्यतो दृष्ट । तद्यथा । विशिष्टाभ्रोन्नति दृष्टे भविष्यति वृष्टिरिति तथा नदीपूरात्दृष्टेऽस्यगिरौवृष्टिरभू-दिति पुरुषादागतिपूर्विका देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यादित्यनुमीयते । निश्चिततया धर्म्मात्साध्यसाधन-मुपमान । यथा साम्नालांगूलककुदखुरविषाणादिमानतिनिश्चितस्तनया धर्म्मात्साध्यस्य गवयस्य साधन-मुपमान । सज्ञासंज्ञिसम्बन्धनिश्चयकारणं गवय इत्युपमानाख्यं गौरिव गवय इति । मतान्तरेणाशे-षार्थे आप्त तदुपदिष्ट आगमः शब्द प्रमाण । अत प्रमेय आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन. प्रवृत्ति-दोष प्रेत्यभावफलदुःखापवर्गसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा हेत्वा-भासछलजातिनिग्रहस्थानानिप्रमेय कथ संशयादे प्रमेयत्व आत्मादिप्रमेय निश्चयोपाय त्वात्तदव्यपदेशोपचारो न विरुध्यते । बुध्यादि गुणोऽआत्मा । भूतसमुदय. शरीर चक्षुरादीनीन्द्रि याणि अर्थास्तद्विषया. । बुद्धिर्ज्ञानं । नित्यनिरवय सक्रिया अमूर्त्ता सर्वगतानेक मन' । प्रवृत्तिरुत्ते-पणादि क्रिया । असदनुष्ठानं दोषः । जन्मान्तरप्राप्तिः प्रेत्यभाव । पुण्यकर्म्मोपार्जित शुभानु-भवन फलमितरदुःख पुण्यपापयोरपायोपवर्ग. । मन्दमन्दप्रकाशस्थाणुपुरुषोचिते भूभागे स्थाणु' स्यात्पुरुषः स्यादित्यनवधारणात्मकः प्रत्यय सशय. । यत्प्रतिप्रवर्त्तनक्रियायास्तत्प्रयोजनं । अवि-प्रतिपत्तिविषयभावापन्नोर्थो दृष्टान्त । सर्वपराभ्युपगमादिकरणतन्त्रभेदाच्चतुर्विध सिद्धान्त प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः । तद्यथा अनित्यः शब्द कृतकत्वात् घटवत् । तथोत्पत्ति-धर्मकत्वानाकाशवदनुत्पत्तिधर्मकत्वं तस्मादनित्य इति । संशयादूर्ध्वं भवितव्यता प्रत्ययस्तर्क यद् भवितव्यमत्र स्थाणुना पुरुषेण वेति । संशयतर्काभ्यां निश्चितार्थो निर्णयः । विजिगीषु परस्परं छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालभकरणादिलक्षणो वाद । पक्षप्रतिपक्षसंगृहीतया गुरुशिष्यादे-र्वस्तुविचाराभ्यासो जल्प । स्वपक्षस्थापनविहीन परपक्षदूषण वितण्डा । असिद्धादयो हेत्वाभासाः । इमे सभापतयो विचक्षणा इत्यादि छल । साधनदूषणाभासा जातयः । पक्षत्यागादीनि पराजय-वस्तूनि निग्रहस्थानानि । तद्यथा । पक्षत्यागपक्षान्तरपक्षविरोध-पक्षसन्यासहेत्वन्तरनिरर्थका प्राप्त-कालन्यूनाधिकपुनरुक्ताननुभाषणाज्ञानप्रतिभाभावविक्षेपमतानुज्ञापर्यनुयोज्योपेक्षणनिरनुयोज्यानुयोगाप-सिद्धान्तहेत्वाभासाश्चेति निग्रहस्थानानि । दुःखजन्मप्रवृत्तिमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरा-पायो मोक्षः । अमीभिः पुनर्वत्स विवेकमहापर्वतारूढैरप्रमत्तत्वशिखरस्थितैर्जिनपुरनिवासिभिर्जिन-लोकैरयदृष्टो निर्वृत्तिनगरीगमनमार्गः । यदुत, जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वं । तत्र सुखदुःखज्ञानादिपरिणामलक्षणो जीव. । तद्विपरीतस्त्वजीवः । मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमादकषाययोगाबन्धहेतव. । कायवाग्मनः कर्मयोगः । स आस्रव' । आस्रव कार्यं बन्ध. । आस्रवनिरोध. सवरः । सवरफलं निर्जरा निर्जराफलं मोक्षः । इत्येतेसप्तपदार्थाः । तथाविधप्रतिपेधा-

दुष्टानष्टाया विरोधश्चाप्यनेनैव दृष्टान्ते स्वयमेव बाधिना तद्ध्यानाद्विवक्तव्य। सर्वे भावा न हन्त्य । इति नानात्वमिति गुणिगुणाशाक्रियासमुत्पन्नय गतिनिवृत्तात्। उत्पादविगमध्रौव्ययुक्मत्। एवं द्रव्यमनन्तपर्यायमय इति प्रत्यक्षपरोक्षे द्वे एव प्रमाणे इति जैनमतस्य निदर्शनमात्र।

जयति शुभचन्द्रदेवः षड्दर्शनपुण्डरीकमार्तण्ड । चन्द्रविनन्दुर राद्धान्तपाथिवारिणां सर्वविनुत ।

इति समाप्तं शुभं भूयात् वर्धतां जिनशासनं। इदमेव ग्रन्थ दक्षिणकर्णाटके मूडबिद्रीनिवासिना नेमिराजाख्येन लिखितं समाप्तश्चास्मिन् दिने रक्ताक्षि संवत्सर माघशुक्लद्वादशी ॥

पढ जाना चाहिये। ये अपने समय की परिस्थितियों पर भी पूरा प्रकाश डालते हैं। छपाई-सफाई गेटअप आदि उत्तम हैं।

संस्मरण—लेखक: श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, पृष्ठ सख्या: २५१, मूल्य : तीन रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक मे श्री चतुर्वेदी जी द्वारा लिखित २१ संस्मरण हैं। आपने कवियों, साहित्यिकों, राजनैतिकों एवं समाजसेवियों की प्रमुख जीवन घटनाओं पर प्रकाश डाला है। ये सभी संस्मरण साफ, सुथरी और परिमार्जित शैली में लिखे गये हैं। इन संस्मरणों मे इतना रस और ओज है कि बिना किसी आयास के पाठकों के हृदय की रागतन्त्रियां सहज ही झंकृत हो जाती हैं। हिन्दी मे रेखाचित्र और संस्मरणात्मक साहित्य की कमी थी, श्री चतुर्वेदी जी ने इस खटकनेवाली कमी को पूरा करने का श्लाघनीय प्रयास किया है. सीधी सादी भाषा मे गुथे हुए विचार और सघन भावनाओं का व्यक्तीकरण किया गया है। हिन्दी साहित्यसे अभिरुचि रखने वाले प्रत्येक पाठक को इस कृति का स्वाध्याय कर ज्ञानवृद्धि के साथ जीवन सृजन की प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए। छपाई सफाई, गेटअप आदि उत्तम हैं।

भारतवर्षीय दि० जैन संघ के प्रकाशन

राम-चरित (रामपुराण का हिन्दी अनुवाद)— मूल ग्रन्थकर्त्ता : भट्टारक सोमसेन, हिन्दी अनुवादक : श्री प० लालबहादुर शास्त्री, पृष्ठ संख्या २००, मूल्य : चार रुपये।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में श्री प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री द्वारा लिखित प्राक्कथन है। जिसमे दि० जैन आम्नाय मे प्रचलित रामकथा के दोनों रूपों पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे उत्तर पुराण मे अंकित रामकथा को सूत्र मानकर ही कथा को पल्लवित किया है। अनुवादक ने आज की सरल हिन्दी मे सरस और शुद्ध अनुवाद किया है। कथा की गति मे शिथिलता नहीं आने पायी है। जो पाठक पद्मपुराण की प्राचीन भाषा से घबडाते थे, उनके लिए यह सुन्दर प्रयास है। इस पुराण ग्रन्थ के स्वाध्याय से सभी आबाल-वृद्ध लाभ उठा सकते हैं। स्वाध्याय प्रेमियों, मन्दिरों और पुस्तकालयाधिकारियों को इसे अवश्य मगाना चाहिये। छपाई-सफाई गेटअप आदि अच्छे है।

भगवान् ऋषभदेव—लेखक : श्री प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, साइज : डबलक्राउन सोलह पेजी, पृष्ठ संख्या : १३३, मूल्य : एक रुपया चार आना।

श्री प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री कुशल सपादक और चिन्तनशील लेखक हैं, आपकी लेखनी से लिखी गयी 'जैन धर्म' पुस्तक अत्यधिक समादृत हुई है। प्रस्तुत रचना भगवान ऋषभदेव की जीवनी के रूप म लिखी गयी है, इसमें आदि पुराण के आधार पर प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का साङ्गोपाङ्ग जीवन चरित्र अंकित किया गया है। लिखने की शैली रोचक, सरल और प्रवाह युक्त है, पौराणिक वर्णनों को सजाने और सवारने का कार्य भी बड़ी कुशलता से किया है। पुस्तक जैन अजैन सभी विद्वानों के हाथ में देने के लायक है। अन्तिम प्रकरण म श्रीमद्भागवत के आधार पर ऋषभदेव का जीवनवृत्त दे देने से पुस्तक की उपयोगिता कई गुनी बढ़ गई है। जिज्ञासु पाठकों को इस पुस्तक को अवश्य पढ़ना चाहिए। छपाई सफाई अच्छी है।

अन्य प्रकाशन

वर्णी वाणी (द्वितीय भाग)— सङ्कलयिता और सपादक विद्यार्थी श्री नरेन्द्र, प्रकाशक श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला भदैनी, काशी पृष्ठ सख्या १८+ ४४८ मूल्य चार रुपये।

पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी जैन समाज के प्रमुख आध्यात्मिक सन्त हैं, आपके वचनों में समाज को प्रभावित करने का अद्भुत जादू है। सहस्रों नर नारी अविचलित भाव से आपके धर्मोपदेश का श्रवण करते रहते हैं। श्री नरेन्द्रजी ने वर्णीजी की सात वर्ष की दैनन्दिनी मेरी जीवन गाथा सुलझी झलक सागर चातुर्मास के प्रवचन, वर्णीजी की द्वारा लिखे गये पत्र आदि सामग्री के आधार से इस सकलन को प्रस्तुत किया है। सकलन में वैज्ञानिक शैली का आश्रय ग्रहण किया गया है। विषय की दृष्टि से भी इस वर्णी वाणी में आध्यात्मिक सामाजिक, नैतिक प्रभृति सभी विषय समाहित हैं। कोई भी व्यक्ति इस वाणी के स्वाध्याय से अपने तन मन को स्वस्थ सबल और प्रभावशील बना सकता है। भाव विचार और भाषा सभी सुसंस्कृत और परिमार्जित हैं। ऐसी सुन्दर पुस्तक प्रकाशित करने के लिए ग्रन्थमाला के व्यवस्थापक और नियामक विद्वद्वर्य श्री प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री और श्री नरेन्द्रजी साधुवादार्ह हैं। स्वाध्याय प्रेमियों को इससे लाभ उठाना चाहिये। छपाई-सफाई अच्छी है।

सितार (भोजपुरी गीत-काव्य):— रचयिता श्री रामनाथ पाठक 'प्रणयी', प्रकाशक देववाणी मन्दिर आरा (बिहार) मूल्य दो रुपये।

आरम्भ में डा० उदयनारायण तिवारी, प्रयाग विश्वविद्यालय की प्रस्तावना है। आपने इसमें कवि और उसकी कविता पर प्रकाश डाला है। कवि 'प्रणयी ऐसे

प्रतिभाशाली कवि है जो हिन्दी, संस्कृत और भोजपुरी इन तीनों भाषाओं में समान रूप से कविता लिखते हैं। प्रस्तुत संग्रह में लगभग ६० गीत लिखे गये हैं। कवि ने अपनी भोजपुरी कविताओं द्वारा भोजपुरी साहित्य में एक नयी धारा प्रस्तुत की है। इस संग्रह के अनेक गीतों में लुभावना प्रकृति चित्रण सामाजिक विषमता, देश की दयनीय दशा, जीवन के विभिन्न दृष्टिकोण एवं देश-प्रेम का जीता-जागता चित्र खींचा है। यों तो भोजपुरी भाषा स्वभावतः मीठी है, पर कवि ने अद्भुत संगीत माधुर्य प्रदान किया है। पाठक देखेंगे कि निम्नगीत में कल्पना की उड़ान के साथ समाज का यथार्थ चित्रण करने में कवि कितना सफल हुआ है।

चमरा के चिटिया चरावेली चकरिया रे,
भोरही ववरिया के ओर;
फटही लुगरिया, फटहिए कुरुतिया रे
हथवा लइठी कठोर!
मुठिए भ चउरा प दिनवाँ गँवावेली,
कइसन करमाँ के फेर,
मथवा प वतवा के टूटेला पहड़वा,
कहियो जे कइलस अबेर।

इत्यादि

हम इस कृति का स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि कवि अपनी रचनाओं द्वारा माँ भारती के भाण्डार को समृद्धिशाली बनायेगा। भोजपुरी भाषा के ज्ञाताओं के लिए रचना उपादेय है। छपाई-सफाई, गेटअप आदि अच्छे हैं

—चक्रनेमि



THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XVIII DECEMBER, 1952 No II

Edited by

Prof A N Upadhya M A., D Litt
Prof Jyoti Prasad Jain, M A LL B
Sri Kamata Prasad Jain M R A.S D L.
Pt K Bhujbali Shastri, Vidyabhushan
Pt Nemi Chandra Shastri, Jyotishacharya

Published by

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Inland Rs 3 Single Copy Rs 1/8

CONTENTS

Om



JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol XVIII No II | ARRAH (INDIA) | December 1952

THE DATE OF DURVINITA GANGA THE ROYAL PATRON OF PŪJYĀPĀDA

By
Prof Jyoti Prasad Jain M A LL B

In our discussion under the Caption Jaina Gurus of the name of Pūjyapāda in the previous issues of the Jaina Antiquary we have seen that the earliest and most famous guru of that name was Devanandi Pūjyapāda who was not only a contemporary of Ganga King Durvinita but was also the latter's religious preceptor as well as teacher in several branches of secular learning The date of this first Pūjyapāda, therefore, could easily be fixed if we were sure of the date of Ganga Durvinita Unfortunately, the Ganga Chronology has not yet been quite fixed up and there has been a conflict of opinions as to the date of Durvinīta himself

Lewis Rice had quite reasonably fixed the date of this king as 482-517 A D [1] Dr Buhler had supported this date, tentatively placing Durvinita in the later half of the 5th century A D [2] And for a long time this had been the generally accepted theory [3]

1 My & Cg pp 35 196
2 I A XV p 355
3 J A XVIII 1 p 12 Fn 27

But Prof. R Narsimhmachar who himself had substantially contributed to the above theory[4], later on, on the basis of the newly discovered evidence of the Avantisundari-kathasara found reason to disagree with and revise that theory The new date of Durvinita thus suggested by this scholar was 605 660 A. D.[5]

This later date theory has already been questioned by Prof Keith who plausibly discounted the evidence of the Avantisundari katha and its Sāra He says that this piece of evidence is not at all reliable and that on its basis alone we cannot be sure of Bharavi's connection with Visnuvardhana or of this king being identical with the prince who founded the Eastern Chalukya line of Vengi in A D 615 and was the brother of that Pulkesin whose Aihole inscription (A D 634) mentions Bharavi's fame[6]

In support of his new theory, Prof. Narsimhamachar had also adduced the evidence of the Gummareddipur plates which are said to ascribe to Durvinita a commentary on the XV Chaptor of Kiratarjuniya of Bhāravi[7] But here again, Dr Keith calls it a well established literary forgery which ascribes to Durvinita Konguni such a commentary on that work[8] Keith would, however, prefer circa 550-600 A D as the date of Durvinita

But Prof Narsimhmachar is not the only exponent of this later date theory From an inscription discovered at Jainagamarpalli in in the Pavagada Taluk of the Tumkur district, believed to have belonged to the Western Chalukya king Vikramaditya I, a son of Pulkesin II, Dr. Venkataramanya infers that this Chalukya Vikramaditya assited by Konguni Arasa fell upon Kaduvetti a Pallawa king and captured Kanchipura And the Konguni Arasa mentioned

---

4 Kavicharita, pp 5-6, J G, 1923, pp 217-232

5 M A R 1928, p 28, M A R 1924, p 70, also his Presidential address to the 8th Ses of AIOC

He, however, does not shift the date of Pujyapāda from the 5th century A D and in this connection amends his former belief only to this extent that this Guru had nothing to do with Durvinita

6 A History of Sanskrit Lit, Preface XVI ff

7 Kavicharita, I, pp 12-13, M. A R 1912, pp 31-32, 35-36.

8 For this Keith refers to E C III, 107

therein is identified with Durvinita [9] Probably on the same basis, it has been asserted by some scholars that Ganga Durvinita was the father in law of Pulkesin II who was killed by Pallava Narasimha varmana in about 642 A D and that it was Durvinita who restored his grandson Vikramaditya I, the son of Pulkesin II to the Chalukya throne in about 654 A D [10] Dr D C Sirkar also thinks that this suggestion seems quite probable [11]

But the above record nowhere mentions the name of Durvinita or that of Narasimhavarman Pallava The two kings mentioned therein have been described merely by the generic titles, that is Konguni and Kuduvetti of their respective dynasties Almost all the Ganga kings bore the title of Konguni just as the Pallava kings bore that of Kuduvetti and the Chola kings that of Karikala Hence there is no reason why the Konguni Arasa and the Kuduvetti of the record should be identified with Ganga Durvinita and Pallava Narasimhavarmana alone and not with any other rulers of those dynasties To associate the inscription with the western Chalukya monarch Vikramaditya I (642 or 654 to 680 A D) is also no more than a mere inference No doubt, the Pallavas had been the traditional enemies of the Gangas as well as of the Chalukyas, and like their predecessors Pulkesin II and his successors had to fight many a battle against the Pallavas But the statement that this Pulkesin the Great was conquered by his enemy the Pallava king who took the former's capital, plundered it and also put Pulkesin to death, in about 642 A D, is hardly supported by any reliable evidence. Dr Bhandarkara does not at all mention it [12] and Smith says that the Pallava records themselves are doubtful about such a victory [13] Had it been such a decisive and glorious victory as it is made out, the Pallava records must have made the most of it On the other hand the records of Chalukya Vikramaditya I tell us that he was 'the paramount sovereign between the three seas and was

9 Proceed of the 12th ses of Aioc vol II pp 534-41 The said inscription is published in M A.R for 1941

10 Triveni I pp 112 120 Kadambakula pp 55 56

11 Successors of the Satawahanas p 302

12 In his History of the Deccan

13 V Smith—EHI

a valarous conqueror who inflicted a crushing defeat on the Pallavas and took Kanchi.[14] And his contemporary Ganga king was, not Durvinita himself but his greatgrandson Bhuvikrama Srivallabha who was succeeded by Sivamara Navakama in 679 A. D [15] Bhuvikrama's definitely known date is 670 A D, and he seems to have had been reigning since 634 A. D [16] His own records dated 670 A. D, describe him as the victor of a hundred battles and tell us that he had many times to fight against the Pallavas whom he finally defeated in the decisive battle of Bilinda [17] Bhuvikrama was most probably a staunch ally of Pulkesin II and his son Vikramaditya I against the Pallavas, and it was Pallava Narsimhavarmana (630-668 A. D) who was defeated and killed in circa 668 A D by the joint forces of the Ganga and Chalukya kings who then even captured the Pallava capital Kanchi and took away as hostages two Pallava princes.[18]

There is also no evidence to show that Durvinita was the father-in-law of Pulkesin II and the maternal grand father of Vikramaditya I In fact, as is evident from the Nagar inscription, it was probably Vijayāditya the traditional hero and founder of the Chalukya dynasty of Vātāpi whom Durvinita befriended and gave his daughter in marriage [19] As early as the times of Tadangala Mādhava, the grandfather of Durvinita, the Pallavas of Kanchi had become a menace to the Gangas of Talkāda and the Kadambas of Banvasi Consequently the latter allied themselves against the common foe and in order to seal the alliance the Kadamba king had given his daughter in marriage to Mādhava Ganga When in the times of

14 I A, VI, 86.

15 E C, XII Tk, 23, III Md, 113

16 Being referred to in the Aihole insc of Pulkesin, dated 634 A D

17 MAR, 1925, p 86

18 Sivamara's Mandayya grant of his 34th regnal year, dated 713 A D (E C III Md 113) says that as a result of Bhuvikrama's victory over the Pallavas, two Pallava princes, Jaya and Vrdhi by name were brought to the Ganga Capital where they lived under the protection of the Ganga king

19 Nagar Plate, E C VIII Nr 35 Or at best it might be his son Jayasimha Ranaraga whom Durvinita gave his daughter This Jayasimha was the father of Pulkesin I.

Avinita Konguni, the father of Durvinita, has been described as 'the beloved sister's son of Krsnavarma (कृष्णवर्म महाधिराजस्य प्रिय भागिनेय', and this Krsnavarma has himself been described as 'the brilliant sun on the sky of Kadamba dynasty' (श्रीमत्कदम्बकुल गगनगभस्ति-मालिन) and that he was anointed during the Aśvamedha sacrifice (कदंबवंशार्क अविच्छिन्नाश्वमेधावभृथाभिषिक्तः)[25] Dr D C Sirkar thinks that it was Krsnavarma II who was the maternal uncle and contemporary of Avinita Konguni, and he places the latter in mid 6th century A D[26] According to this scholar, Ganga Madhava Maharaja, the father of Avinita was married to the grand daughter of Visnuvarmana Kadamba who was killed by Ravivarmana before the latter's 11th regnal year[27] Prof Narsimhamachai is also of the same opinion.[28]

But there had been another Krsnavarma, the first Kadamba prince to have that name, who was the father of the above mentioned Visnuvarmana himself He was the younger son of Kākusthavarmana Kadamba and the brother of Śāntivarmana who was the father of Mrgeśavarmana This Krisnavarmana I had rebelled against his nephew Mrgeśavarmana, had become independent and had even tried to usurp the latter's throne[29]

Now Prof Moraes is doubtful as to which of the two Krsnavarmanas is meant in the Ganga records.[30] Whereas K. N Dikshit[31] and several other scholars[32] definitely identify him with Krsnavarmana I, and Messrs Srinivasachari and Ramaswami Ayengar expressly assert that the Kadamba princess married to Tadangala Madhava was the daughter of Kakusthavarmana[33] In fact, there is absolutely no indication in these records which could be taken to point to Krsna II, whereas there is ample to prove that it must have

25 I A., I p 362, II p 155, E C, Ne 58
26 Successors of Satavahanas, p 294
27. Ibid p 267
28 Proceed AIOC, 1922, p 307
29 Sirkar—ibid p 280
30 pp 29-31, 35 of his book 'Kadamba Kula'
31 E I., XVI n2
32 I H Q, IX p 197
33 A Hist of India, p 255.

been Krsna I This prince has been described therein as having his abhis ka performed during the Asvamedha ceremony Dr Sirkar himself admits that Krsnavarmana II never performed any Aśva medha and that his abhiseka during that sacrificial ceremony is simply fantastic, for the Benur and Vanahalli records do not refer to his own Aswamedhas [34] whereas the Nilambur grant of Ravi varmana, the son of Mrgeśavarmana, who was a rival and contem porary of Krsnavarmana I calls the latter as 'अश्वमेधयाजिन' [35] Sirkar even goes so far as to say that Krsnavarmana I was the only Kadamba prince who performed any Aswamedha [36] Thus this record of Ravivarmana who came to the throne in about 478 A D and who killed Visnuvarmana the son of Krsnavarmana I in about 490 A D, not only clearly mentions the performance of the Aswa medha by his own father s enemy, the usurper Krisnavarma I but the mention of Ravivarman's own grant of villages while he was encamped near Talkada the capital of the Gangas proves his success against the Gangas themselves who were friendly to Krsna varma I's line [37] Ravivarmana ruled for 35 year i e upto circa 513 A D His son Harivarmana was a contemporary of Simha varmana and Krsnavarmana II, the son and grandson respectively of Visnuvarmana, the son of Krsnavarma I Chalukya Pulkesin I was also his contemporarary Harivarmana s Halsi grant is dated 538 A D Hence if Krsna Kadamba of the Ganga records were Krsnavarmana II, the marriage in question could not have taken place much prior to the middle of the 6th century A D But then Ravivarmana long before 500 A D could not have alluded to the friendship of the Gangas with Krisnavarma I's family The basis of this friendship was obviously that marriage alliance between the two houses

There is, thus, no doubt that it was the sister of Krsnavarma I and a daughter of Kakusthavarmana Kadamba who was married to Madhava Ganga, and most probably Krisnavarma I was pri marily instrumental in bringing about that marriage For this

34 Sirkar—ibid p 294
35 Ibid pp 280 311 E I, VIII p 146
36 Sirkar—ibid p 240
37 Ibid p 267

reason and also because he particularly loved his nephew Avinita very much, Krisnavarma I is so laudably praised in the Ganga records, Kakusthavarmana belonged to the first quarter of the 5th Century A D[38] His Halsi grant is believed to have been dated in the 80th year of the Gupta era, which would fall in about 399 A D. One of his daughters was also married to a son of Chandragupta Vikramāditya (375-413 A.D) through the agency of poet Kālidasa[39] His sons Śāntivarmana and Krsnavarmana I thus belonged to the middle of the 5th century A. D. Śānti's reign seems to have lasted upto circa 470 A D And as Sirkar thinks, Krsnavarmana I had most probably died before the beginning of Śāntivarman's reign[40] who is proved to have been a contemporary of Kasnavarma I's son Visnuvarmana by the latter's Virur grant.[41] This grant professes to have been issued by कदम्बधर्ममहाराज विष्णुवर्मन by permission of his ज्येष्ठपिता (elder uncle) शान्तिवर्मनधर्ममहाराज वैजयन्ती तिलक समग्र कर्णाट भूगर्भभर्त्ता And it clearly shows that it must have been Visnu varmana who usurped the throne of his consin Mrgesavarmana Krsnavarmana I was not thus the usurper, though he might also have revolted against the authority of his brother, not of his nephew, and become semi independent in the province he was the viceroy of. There remains, therefore, no doubt that Durvinita's father Avinita Kougunі who was the sister's son of this Krsnavarmana I Kadamba and hence a contemporary of the latter, cannot be placed much beyond the middle of the 5th century A D

Another piece of evidence also supports this view. It has been inferred from the Dodaballapur inscription that Durvinita's mother's father was the Punnāṭi king Skandavarmana after whose death the territory of Punnata passed to Durvinita as heir of his maternal grand father.[42] The father of this Skanda Punnata was Bhujaga Punnāti whose father in-law was Ganga Mādhava Simhavarmana of the Perur line[43] According to the Pennuekonda plates this Ganga

---

38 Ibid p 255, I A VI 23

39 Heras—JBORS XII 458, Dubreiul p 100, Sirkar p 253

40 Sirkar—ibid p 280

41 E C, VI 91

42 K Rao-Gangas of Talkad, p 33, Rice-Cg Inses I pp 7-11

43 Sirkar—ibid, pt II ch V

prince and his father Aryavarmana were installed by Pallava Simhavarmana and Skandavarmana[44] Rice assigns these Perur Gangas to the 4th century, but Fleet and Sirkar are inclined to place them in the middle of 5th century A D and say that the Pallava Simhavarmana here referred to is probably that of the Lokvibhaga fame (436 458 A D) The Pallavas are said to have helped these Ganga feudatories of theirs because the latter had crushed the unruly Banas[45] This would place Skanda Punnāta about the beginning of the 6th century But even then, if Durvinita is assigned to the middle of the 7th century his maternal grandfather Skanda Punnata would seem to precede him by more than a century, which if not quite impossible is highly improbable To me it seems that this Pallava simhavarmana is none else but the prince who according to Fleet, was the elder brother of Visnugopa of Kanchi a contemporary of Samudragupta (326 375 A D)[46], and Pallava Skandavarmana referred to herein was the prince who succeded Visnugopa[47] Sirkar himself seems to be doubtful on this point[48] And if it were so there is no difficulty in placing Skanda Punnata in about the middle of the 5th century A D Moreover, Prof Krisna Rao and Rice seem to have been mistaken in their interpretation of the above mentioned Dodaballapur inscription The record itself is quite clear on the point that Skanda Punnata was the father in law of Durvinita himself and not of his father[49] Other Ganga records also confirm this view when they state that Durvinita got, Punnata in dowery of his wife

Thus wheth r the Pallava contemporaries of Bhujaga Punnata are proved to belong to the latter half of the 4th or the first half of the 5th century, his son Skanda Punnata cannot be placed much beyond the last quarter of the 5th century, and consequently the

44 E. I XIV 331

45 Sirkar—ibid, II p 247

46 Ibid pp 177 203 But Hultzch thinks he was the son and not the brother of Visnugopa

47 Ibid p 178

48 Ibid p 184

49 E. C. IX De 68

latter's son-in-law and contemporary Durvinita Ganga beyond Circa 500 A. D.

Some scholars try to find support for the later date theory in certain Chalukya records of late 7th and early 8th centuries in which mention is made of one Pujyapāda. Here they uphold that association between Durvinita and Pujyapada, which they had already refuted for shifting Durvinita's date, now to confirm that shifted date. However, this Pujyapāda of the Chalukyan records is a different and later Jaina Guru than Devanandi Pujyapāda, and with him I shall deal in a subsequent paper.

Fleet is inclined to favour the later date theory because he believes that on paleographical grounds the Gummareddipur plates of Durvinita should be assigned to the 7th century. But it is obvious how unreliable and flimsy this basis is especially when unsupported by any other tangible evidence and when on the same basis other scholars like Rice assign the records of Avinita and Durvinita to the 5th century A. D.

Then the date of the foundation of the Gangawadi kingdom by Daddiga Konguni with the help of his Jaina Guru Simhanandi, as arrived at by Rice is 188 A D[50] This Simhanandi obviously belonged to the Nandi branch of the Mulasangha and was one of the very early gurus of that order He is mentioned in the Pattavalis, after Bhadrabahu, Kundakunda and Umaswami, and almost along-with Samantabhadra (120 180 A D)[51], and after him come Vakragriva, Vajranandi, Pātrakesari and others Although there is no strict chronological order in these lists and only the more important gurus are mentioned, still the general sequence seems to be quite all right And it is quite probable that the first Ganga king belonged to circa 200 A. D.[52] Durvinita was the 8th or 9th ruler of that line and a period of about 300 years for 8 kings, several of whom (viz. Konguni, Madhava II, Madhava III, Avinita) certainly had very long reigns, is not very much It gives an average of only 35 years each. Between Durvinita and Sripurusa Muttarasa (726-776 A D)

50 My & Cg pp 32, 49

51 My article on that Guru in the Varni Abhi Grantha

52. Saletore—Med Jainism, pp 7-17

five rulers intervened, which for those 200 years again gives an average of 40 years each Even after Sripurusa nine generations took some 300 years Durvinita himself had a reign of 40 years Hence in that dynasty of remarkably long reigns an average of 35 to 40 years for each reign is quite probable If Durvinita is placed in 605 660 A D the reigns of his three lineal descendents will have to be squeezed within some ten years which does not seem likely

The foregoing discussion would, therefore prove beyond reasonable doubt that the Ganga monarch Durvinita Konguni cannot be placed much beyond 500 A D, and as a tentative suggestion his date may be fixed as circa 480 520 A D

SANSKRIT STUDIES : WHITHER ? *

By

Professor Dr A. N Upadhye

KOLHAPUR

With the attainment of political independence by India, there is seen everywhere great enthusiasm about the culture and civilization of Ancient India, great stress is being laid on their glorious aspects, motives are being attributed to outside scholars for their alleged prejudices and perverted attitude, and the urgency of studying our ancient heritage is being pressed constantly nowadays Even when and where the specialists, who can speak with some authority, are modest in their observations, men of position and privilege are sermonising on the study of Sanskrit language and literature, some insist that the Sanskrit language was once the Lingua Franca of India and can be adopted as State Language even today, and others assert without hesitation that the Sanskrit literature contains all knowledge and its study is the only panacea for the transitional period of our cultural catastrophe. A learned body like the All-India Oriental Conference, the devotion of the members of which towards Sanskrit studies can never be doubted or questioned, resolved at its Darbhanga Session that Hindi should be the National Language of India But it was an amusing sight to find that certain enthusiasts ridiculed the oriental scholars, showered choice abuses on them in Deva vānī and pressed the claim of Sanskrit alone to become the National Language of India All this they did without taking into consideration, and much less refuting, the arguments advanced by the learned scholars there

The importance of Sanskrit language is unquestioned, but it would be a mistake to approach the study of Sanskrit through bias for one religion or the other or with some sectarian or sectional outlook Then there are certain enthusiasts for whom Sanskrit literature means only that part of the classical period, and they would like to close their eyes against the Vedas, Brāhmanas etc. Then if the study of Sanskrit literature is not to be judiciously combined with that of Prākrit and Pāli languages and literatures, the

*This Paper was submitted to the All-India Sanskrit Parishad, Shri Somanath Patan

perspective of ancient and medieval Indian culture is bound to remain incomplete if not perverted A more broad outlook on the study of these languages and literatures alone can supply a sound basis in estimating the value of the cultural capital of ancient India

If we are not going to adopt this cosmopolitan attitude or outlook and if we seriously take into consideration the present state of Sanskrit learning in most of our Pāṭhaśālās, or even in some of our Universities one suspects the danger that we would easily slide back to that stage of Sanskrit scholarship which was there in India prior to the advent of European scholars on the field of Indian learning It is not very difficul to imagine the broad outlines of that stage In the field of practical scienc the progress of thought was nil but unfortunately this stagnation was not at all realised In the field of speculative sciences, we know what Navya Nyāya means we were just growing a jungle of words not knowing what fruits we were to reap The spiritual ideals were lost sight of and vested interests were clinging hard to the form and letter, having altogether missed the spirit It was all verbal hair splitting quite sectarian, secluded, and onesided in outlook. Great enthusiasm was shown for religious rituals, mythological details and exclusive social conventions and customs so rigorously that the result of all this was anything but laudable One feels sad to remember that in India, at that time, there was not a single Pandita, or Indian scholar, who could read or decipher the inscriptions of Asoka, Kharavela and Rudradāman This one instance is sufficient to indicate how onesided and shallow the Sanskrit scholarship had grown just before the European scholars took to Sanskrit studies

The work of European scholars in the various branches of Indian learning has shown altogether fresh approaches not only to the study of Sanskrit language and literature but also to that of Indian history and philosophy The historical and comparative methods of study as applied to Sanskrit language and literature gave remarkable results and thus assigned a very important place to Sanskrit language in Indo European linguistics Collections of mss were carefully scrutinised, descriptive catalogues were prepared, monographs and dissertations were produced on various topics and there came to be written histories of various branches of Indian literature And even

to this day Winternitz's Geschichte stands unsurpassed What is true of Indian literature is also true of Indian history, archaelogy, epigraphy etc It is thus alone that Indian learning was brought on the canvass of human knowledge. Whatever progress has been achieved in Sanskritic researches is primarily due to instruction and example of and inspiration from European scholars. We cannot forget the debt we owe to them, and it would be a great mistake if we ignore or grow lax in the use of critical, comparative, historical and scientific methods of study It is but natural that the number of European scholars would decrease day to day, and the main responsibility of pushing the front of Indological research in the proper perspective of recorded human knowledge will lie primarily on the shoulders of Indian scholars.

Strictly scientific methods are more valuable than tempting results We are now expected to put forth immense industry and to work systematically, and in spirit of scholarly cooperation, with utmost vigilence Every bit of evidence has to be weighed impartially, as much as humanly possible, and there should be very little scope for racial and religious and even national prejudices The continuity of progress has to be maintained with maximum devotion to the Goddess of Learning

It is very easy to grow eloquent on the alleged achievements of Indian civilization and culture in the past, but it would be a suicidal mistake to forget our weaknesses and limitations in our natural tendency to glorify ourselves and everything Indian

We may be verv enthusiastic about the study of Sanskrit literature, but we must also remember the limitations of this branch of learning under the present circumstances: let us not be too much vain about it Language is just a medium of expression, and naturally more attention has to be directed to the contents of literature than merely to the form and structure of the language Let us quietly consider what knolwedge in the fields of practical sciences such as physics, chemistry, medicine, engineering etc. we can get from our early literature, as contrasted with the tremendous achievements of modern sciences in these and other branches. It would be sheer self-deception to claim that our ancestors knew the various

formulae of prepraing aeroplanes submarines and even atomic weapons

Much of our ancient literature is religious in character, and our Indian religions have given to humanity some of the highest norms of human behaviour, such as Samatā, Ahimsā and Mettī, which if put into practice sincerely are sure to achieve great human welfare Today there is a good deal of talk about the e and other religious principles some of them are being used as propagandistic catch words and slogans in and out of context It seems to me that we often foget, may be for convenience or expediency that religion is not merely a topic of profession or talk, but it is essentially a matter of earnest practice There is more sound than ense in the homage which people are paying to these great religious and moral principles *Though we talk so much about these principles we may ask* ourselves why we allow these principles to affect our life and conduct individually and collectively to such a negligible extent Of the four Puruṣārtha let the earnest intellectuals in the society honestly search their hearts as to what place is there for Dharma and Mokṣa the latter perhaps does not exist and the former is just a word of fashionable use for the most The Siṣṭas of the present day have to be a bit more introspective, and it is their responsibility to put into practice whatever they are preaching to others

The early Indian literature has its abiding value it is for us to pursue critical methods of study and to push forward the progress of research in a scientific spirit Let us not use religion merely to *arouse sentiments* but let us study *it dispassionately and put its* principles into practice earnestly to make ourselves better men and women

---

JACOBI'S INTRODUCTION

TO

Ausgewählte Erzälungen in Māhārashtrī
Translated into English
By
Professor Dr A M Ghatge

---

1 The Indian language has passed through three stages of development

(1) Old Indian or Sanskrit, available in three varieties, as Vedic, Epic and Classical Sanskrit,

(2) Middle Indian or Prākrit, known in many dialects differentiated as regards time and place, partly from literary monuments and partly from inscriptions and coins,

(3) Modern Indian or Bhāsā, comprising some nine languages with many dialects

2 In Prākrit, again, three stages may be distinguished

1 The Pāli stage To this belong

(a) Pāli, or the language in which the canonical books of the southern Buddhists are written

(b) The various dialects of the Prākrit inscriptions, which cover a period from the middle of the 3rd century B C down to the 2nd century A D

2. The Prākrit-stage :

(a) Māhārāstrī or simply Prākrit This was really the literary language of this period and is available in works of general Indian literature as well as in those of the Jains, which do not belong to the canon The Jaina Māhārāstrī differs from the ordinary language in a few orthographic piculiarities.

(b) The dialects used in dramas . Sauraseni, Māgadhī etc.

(c) Paiśācī, in which language the largest collection of fairy tales, the Brhatkathā, was written

3. Apabhramśa, which probably embraced several dialects

3 Two mixed languages must also be inserted between the Pāli and the Prākrit stage

(1) The Gāthā dialect in the metrical portions of the writings of the northern Buddhists As regards form, this language is Sanskrit, with many Prakrit forms and words which have been Sanskritised more or less skilfully However, as the verses are based on Prākrit prosody it may be assumed that the authors thought that they were writing Sanskrit, when they retranslated, in accordance with some general rules words from the language in which they were familiar (Prākrit) into Sanskrit It cannot be as umed as a translation of a Prākrit original into Sanskrit, but a language analogous to the defective High German of persons habitually speaking and thinking in Low German

(2) Jaina Prākrit[1] or the language of the older works of the canon of the Jainas As regards form, it is very similar to Mahā rāṣṭrī, especially as seen in the later non canonical writings of Jaina authors however, it differs from that language as regards

(a) Grammar, on the one hand in the exclusive or at least frequent use of archaic forms and expressions such as Nom Sing Masc in e Loc Sing Masc. and Neut in 'msi' the Preterite in 'ittha, āsi, imsu and on the other hand in the absence or infre quent use of numerous Māhārāṣṭrī forms e g of the forms 'tie and tāe' Gen Sing Fem tāna Gen Sing Plu of the Article, of the Absolutive in ūnam, um' et

(b) Lexicography and Syntax in which the Jaina Prākrit is closely related to Pāli but only distantly to Māhārāṣṭrī As the canon of the Jainas was written down in western India (Valabhi) ostensibly in the year 454 A D at a time when Māhārāṣṭrī had most likely reached the status of a literary language it is evident that the compilers of the canon must involuntarily have been in fluenced by the then literary language

---

1 From the evidence of the c nonical books and a pers stent Jaina tradition scholars give the name Ardha Māg dhī to the language of the Jain canon to which Jacobi had given the less appropriate name J ina Prākrit By Jain Prākrits are now usually meant Ardha Māgadhī J ina Māhārā ṭrī of the post canonical works and Jaina auraseni of many of the Prākrit works of the Digambaras

4. The phonetic peculiarities which distinguish Prākrit from Sanskrit and which have trivial exceptions partly at the first stage, are the following :

(1) The law of quantity [2] No syllable, reckoned from the vowel onwards may consist of more than two moras. A mora is the length of a short vowel or of a consonant. This law brings about shortening of long vowels before double consonants, reduction of serveral consonants to two and sometimes loss of one of the two consonants after an original long vowel or after a vowel which was originally short and has only been lengthened at the same time

(2) Levelling of the difference between consonants forming conjuncts, by assimilation and other processes

(3) The law of final sound, according to which, making allowance for Anusvāra, only vowels may stand in the final syllable

(4) The dropping of the sounds r̥, r̥̄, ai, au and the reduction of the three sibilants to one (mostly s)

6. As far as grammatical structure is concerned, a gradual change is effected in Prākrit The actions of the laws of sound would have distorted the forms of the Sanskrit inflection into an irrecognisable condition, so that any analogy between them would have been removed The language, therefore, introduced new analogies and disposed of superfluous forms This is shown in the uniformity and simplication of inflection, which go on increasing with the development of the language.

7 The Prākrit stage is distinguished from the preceding (Pāli-) stage by the weakening or dropping of simple consonants between vowels, by the loss of many forms which were still retained in Pāli, particularly the preterite forms of the finite verb, by complete appropriation of the vocabulary of Classical Sanskrit and by a change in the construction of sentences. Prākrit differs from Apabhramśa in its more archaic and less variable endings in declension and conjugation and also in its more comprehensive grammatical structure

---

2 Jacobi appears to mean that the initial consonant if it exists, of the syllable preceeding the vowel, has no part to play in counting the moras of the syllable

8 Every word of Classical Sanskrit can remain current in Prākrit if it has been reshaped according to the Prākrit laws of sound Such words as come straight from Sanskrit, which probably only in part are not immediate borrowings are called tatsama by the grammarians in the event of their not having undergone any considerable change in meaning, when the Prākrit word agrees in sound with the Sanskrit prototype when the altered form of the Prākrit word can be easily explained by the phonetic laws, they are called 'tadbhava On the other hand such words as in spite of their obvious Sanskrit origin do not correspond in meaning to their Sanskrit prototype and such words as cannot be traced according to the known laws of sound or as cannot be traced back to Sanskrit at all, are called 'deśī' With verbal stems one speaks of 'dhātvādeśa' and not of 'deśī

The deśī words are not provincialisms, as might be thought from the name, even if they may have been so originally at any rate, these are expressly described by Hemacandra (D K I 4) as not belonging to the deśī For the deśī must have universal validity, and it is a fact that many of them can be traced in other dialects as well [3]

Mahārāṣṭrī in particular and the Prākrit Literature

9 At the time when Classical Sanskrit literature was at its bloom, Mahārāṣṭrī assumed the first place among the Prākrit dialects, because it is treated by the Prākrit grammarians as the normal Prākrit, while of the other dialects only their deviations from the Normal Prākrit are mentioned Moreover, Daṇḍin, who probably belongs to the 6th century A D expressly calls it the most eminent Prākrit [4]

10 Mahārāṣṭrī attained this pre-eminence among the Prākrit dialect because it alone had gained general recognition as a literary language For, although in the dramas Śaurasenī is spoken as a colloquial language by the noblest of the Prākrit-speaking persons

---

3 For a fuller statement of the problem of Deśī words cp Jacobi Bhavisattakaha *63— 65

4 Kāvyādarśa I. 35 महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः ।

these very persons use Māhārāstrī[5] in verses, evidently because this was the language of poetry and of higher literature We also know that many poems were written in Māhārāstrī, some of which like the Setubandha, the Saptaśatakam of Hāla, the Gaudavadha, have been preserved for us

11 The Jainas, too, have made use of Māhārāṣṭrī and not of the Jaina Prākrit of their canonical works, for the composition of numerous commentaries and independent treatises The choise of Māhārāstrī for this purpose proves that it was an universally understood literary language. For, in later times, when the living and universal understanding of Māhārāstrī had obviously ceased owing to the ever increasing divergence of the colloquial language from Māhārāstrī itself, Sanskrit usurped its place Most, if not all, Sanskrit commentaries of the sacred texts can be traced back, directly or indirectly to Prākrit originals

12 The home of Māhārāstrī is, as the name indicates, the land of Mahārāstra situated along the upper course of Godāvarī, with Pratisthāna as its capital The points of agreement between this Prākrit nnd modern Marāthi confirm the correctness of this supposition It is true that the Prākrit inscriptions found in this locality represent an earlier stage (Pāli), however, there already occur in them, more especially in the latest ones, sporadic points of accord with our Prākrit e g dropping of single consonants between vowels

13 The period of origin of Māhārāstrī as such can be approximately determined. The latest of the above-mentioned inscriptions, which belong to the later Āndhrabhrtyas, date from the second half of the 2nd century A D Therefore Māhārāstrī is younger than these—The redaction of the canon of the Jainas was, according to tradition, in 454 A. D At this period Māhārāstrī must already have been a literary languange, because it exercised a strong influence over Jain Prākrit. It must have been at the same time or a little later that the commentorial literature of the Jainas began in Māhārāstrī The Jainas represent a change in their religious calendar

5, पुरुषाणामनीचानां संस्कृत संस्कृतात्मनाम् ।
शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीना च योषिताम् ॥
अ.उानेव तु [illegible] प्रयोजयेत । साहित्यदर्पण

in 467 A D at the suggestion of king Satavāhana of Pratisthāna We are probably justified in identifying this Satavāhana with the king of the same name of the same Pratisthāna, who is usually called Hāla, and whose well known anthology of erotic verse, Saptasatakam we possess Thus we obtain the beginning of the 3rd and of the fifth century of our era as the time limits within which Mahārāṣṭrī came to be generally used

14 This result has the support of a further consideration Setubandha, a highly finished artistic poem in Mahārāṣṭrī is praised by Daṇḍin, who probably belongs to the sixth century Now an artistic poem of this nature would not be possible in a language which had little literary development The language therefore, must have been made so flexible by a long literary cultivation that, on the one hand, it became capable of producing such artistic creation, and on the other hand, it did not become incomprehensible in them The same consideration applies if we start from Hāla s Saptaśatakam only that the artistry of this work is less striking We shall, therefore, be not far from the mark, if we fix the beginning of the literary cultivation of Mahārāṣṭrī in the fourth century A. D

15 It is striking that it was just Mahārāṣṭrī which attained to universal recognition as a literary language, whereas, according to the evidence of the dramas, Śaurasenī ranked next to Sanskrit as a colloquial language and Paiśācī had claims to become the universal literary language because a work like the Bṛhatkathā which is placed nearly on the same line as the Mahābhārata and the Rāmāyana, was written in it It seems therefore that causes of another nature must have led to the preference for Mahārāṣṭrī I *conjecture, they* are the same conditions which brought about the bloom of Classical Sanskrit *literature* i e the period of belles lettres,[6] to which M Muller has given the name of Renaissance

16 M Muller explains the sudden appearance of the bloom of Sanskrit literature in the 4th and 5th century A D by the supposition of a previous interval barren of literature occasioned by the conquests and the supremacy of non Indian races in India

---

6. I consider the learned literature to be out of question and adhere to *my opinion* on it expressed formerly (Jenaer Litteratur Zeitung 1879 p 191)

However, apart from the fact, as Weber has already observed, that these dominions of foreign nations only embraced western and south-western India, the following also seems to me to contradict M Muller's supposition. Dandin, who stood close, in time, to the beginning of the 'Renaissance period', would certainly have compared, if M Muller's opinion were correct, in his poetics (Kāvyādarśa) the old poets, i e. those who lived before the interregnum, with the newer ones, who belonged to the Renaissance There is, however, no trace to be found anywhere, of Dandin's being aware of such a contrast, although he mentions earlier poets, even earlier rhetoricians All this seems to point to a long, uninterrupted cultivation of literature

17. On the other hand, the same writer deals in detail with another contrast, namely between the style of Vidarbha or southern and that of Gauda or eastern and he takes up a strong attitude against the latter Dandin speaks of the peculiarities of the eastern style with contempt and biting sarcasm as no other rhetorician does. We can explain this only by the supposition of an actually existing rivalry between an eastern and a southern school of poets Now, some of the faults which are found with the Gaudīyā Rīti, e g bombast and affectation, love of alliteration, the use of difficult words (The Gauḍas consider this a sign of culture I. 46) are weaknesses from which a poetic art usually suffers in its old age In contrast to this, the Vaidarbhī strives after forms of expressions easy of understanding and naturalness (prasāda), the very excellences which the youth of poetic art possesses. For this reason, we miss them in later Sanskrit poetry, even though, theoretically the Vaidarbhi Rītī continued to be recognised as the most perfect style.

18. With this hypothesis, that at the beginning of the golden age of the Classical literature known to us, the southern school of poets competed with the older eastern school and actually did carry the day, one seems justified in assuming that the art of poetry was cultivated for a long time in eastern India at the court of mighty kings, until owing to political events, new kingdoms flourished in south-western India, which overshadowed the splendour of the eastern ones and that poetry found protection and favour at the

courts of their art loving kings We know that, in the 4th or 5th century the Guptas attained to great power in the west; we see how, at the beginning of the new era, Pātaliputra lost its old fame and Ujjayini *rose to greater splendour* It is beyond a doubt that the centre of gravity of Indian poetry shifted about this time (about 400 A D) from east further westwards The races and peoples of the west were thereby also drawn into competition for literary fame at least to a far greater extent than had previously been possible with far off literary centres

19 The land from which the style recognised as the finest in the classical period of Sanskrit literature received its name, and with which, consequently, the 'Renaissance of Sanskrit literature must have been closely associated, is Vidarbha the present day Berar If not exactly a part of Mahārāstra it is certainly bordering on that country We can, therefore understand that events, which caused the one country to become the cradle of a new literary period necessarily assisted the popular literature of the other country to attain to a high esteem In my opinion the preference given to Māhārāṣṭrī over other Prakrit dialects stands in this relation with the 'Renaissance of Sanskrit literature

20 It was probably through its contact with a popular poetical art, the one in Māhārāṣṭrī, that Sanskrit poetry of the 'Renaissance also gained those qualities of freshness and naturalness which are praised in the case of Vaidarbhī On the other hand, Prākrit poetry must have been greatly promoted by its contact with the higher and more fully developed poetry of Sanskrit One important influence of the higher literary language over the lower one should not be mistaken Prākrit has the greater part of its vocabulary in common with Sanskrit *this common possession, however, is probably merely* a result of borrowing on the part of Prākrit For the immense number of Tatsama and Tadbhava words, which occur in Prākrit writings, could scarcely have been current in the popular language, they probably passed over for the most part, from Sanskrit literature to Prakrit The contrary case is also true that many a Prākrit word passed over into Sanskrit after it had been san kritised in some way often in a false way

21. In conclusion a few more observations on the significance for literary history, of the stories published by us. that they are not written by Devendra Gani, the author of the Uttarādhyayana Tīkā, but are only copied from other works, he himself says with reference to IV-VII[7] and X, which latter poem he begins with the words 'atha vrddhavādah'. Furthermore, some of the stories, although none of those given in this book, reappear in Haribhadra's commentary on the Āvaśyaka-Niryukti (who is supposed to have died 1055 A. V = 529 A D.)[8] and therewith we are referred back to older narrative works which served as sources to both commentators Finally Haribhadra and Devendra use Sanskrit in all the remaining portions of their works, in contrast to the oldest commentators writing Prākrit, and it is incomprehensible why they should have written the stories in Prākrit if they themselves were the authors of these stories If, however, they had borrowed them from elsewhere with insignificant alterations and omissions, then the natural thing to do was to preserve the language of the original

22 We may therefore safely take it for granted that Prākrit was the language in which the compilers of our stories wrote most fluently, although, like all cultivated persons of their time, they were most likely not ignorant of Sanskrit,[9] as indeed is obvious from the fact that they sometimes inserted a Sanskrit saying into the narrative. The fact that not all possessed a really learned culture i. e of a Pandit, is seen from 70. 37, where the work of the rhetorician Bharata is confused with the Mahābhārata and is consequently quoted, together with the Rāmāyana as an authority for the theory of the ten grades of love sickness The numerous quotations of Apabhramśa verses show that this language had attained to literary

7 Erzahlungen p 55 9

8 In Vol 40 of the Zeitschrift der deutschen Morgl, Gesell p 103, I have attempted to show that Haribhadra probably lived in the 9th century

9 Owing to lack of definite data, the time cannot be fixed more exactly, we can only indicate, on general grounds, a wide period within which to place the possible date of writing, about 500—800 A D The upper limit is the compilation of the Jaina Siddhānta in 454 A D from which time onwards the literature of the Jainas began I have made the lower limit about 800 because I wish to place Haribhadra in this period

recognition This, however, is not remarkable as the same had not remained without influence on Māhārāṣṭrī Thus, in the latter we find 'kahiṁ and 'tahiṁ used as adverbs of place, whereas in the Apabhraṁśa they are the regular locatives of the pronouns No X shows still more similarities with Apabhraṁśa, the ending 'vi for the absolutive is frequently used therein

23 The style and character of our stories permit us to express conjectures as to the conditions of the Prakrit literature at that time Various styles may be distinguished in the legends of our source one simply indicatory and of epitomising brevity another a little broader but also stiffer (as in the appendices of the Pariśiṣṭha parvan) and finally a graceful and fluent style (in most of the stories in this book) and in the Kālakācāryakathānakam) The last named style the flower of Prākrit prose, does not strive after external adornemnt by a wide display of detail, but it aims at a rounded and fluent diction This is attained mainly by skilful manipulation of the word order, which, far removed from any typical rigidity is to arrange id as according to their respective importance, satisfying, at the same time all requirements of euphony Long and enthusiastic cultivation of narrative literature was surely necessary for the development and establishment of so delicate a style The metrical narratives (No X) and the narrative metrical passages in the Kālakācāryakathānakaṁ point to the same thing and their finished facility and smoothness bear witness to the long development of this class of literature

Narrative literature goes hand in hand with the gnomic poetry The Prākrit sayings, which are sprinkled more plentifully in some passages and less in others should not be regarded as the production of the narrator but as the common property of literature Hence the similarity of some sayings e g 36 8 and 62 25 with 86 23 and 72 31, the partial identity of others e g 40 8 with a saying Ap Par p 17 and lastly metrical fragments, as 52 26 the proverb bhattāradevayāo havanti nārio In this connection, there is a striking similarity between the popular narrative literature of Sanskrit and of Prākrit Future researches must determine whether the latter has been merely a copy of, or rather not a model for the former

24 We must not imagine that the extent to which the Jainas participated in the development of Prākrit literature was an unimpor tant one Indeed, we know that, at least in the first centuries after the compilation of the Siddhānta, they made Māhārāstrī the language of their literature, until, after the complete extinction of this language, Sanskrit, the universal language of the learned, took its place. The writers of our stories also are naturally Jains, they regard the world from this religious point of view and have fitted to this the original undoubtedly common Indian themes, to which is sometimes attached only quite externally a Jaina beginning or a conclusion. I believe, I have discovered an interesting trace of sectarian recasting in the frequently recurring theme of the carrying astray of the principal character by a horse which has been 'perversely broken' This was probably to be a substitute, calculated not to offend the religious conscience of the Jainas, for the otherwise favourite theme of 'going astray while hunting'. Futhermore it is not remarkable that the Jainas should have tacked interesting and favourite themes of narration on to famous names in their fantastic world-history, because they appropriated all the good and beautiful creations of the Indian mind, in order to present to the devotees of their own church all that a cultured person might desire Even though, in their pursuit of this aim, they often dragged the sublime down to the level of pious mediocrity—let one think of their treatment of the Rāmāyana-we are, nevertheless, indebted to them for the preservation of many a pearl of the Indian Middle Ages, of which we should have been ignorant, had not the Jainas appropriated it for themselves We may, I think, count the present stories amongst the above-mentioned pearls

---

MOGHALA AND SAPTABHANGI

By
Prof A. Chakravarti M A I E.S Madras

Moghala representing Budhistic views, criticises the Jaina metaphysical doctrines of Nitya anitya Asti nāsti and Bheda and Abheda

Taking first for examination the categories of Nitya and Anitya Permanency and change Moghala questions "Are these characteristics mere states or modification of the real or essential characteristics or the accidental characteristics associated with the real by external agency ?

Neelakesi answers as follows 'They are the the essential characteristics of things "

Moghala questions If Nitya is the essential characteristic of the real, then the real must be an unchanging permanent existence. Being unchanging and absolute, it is incapable of producing any effect on living beings Hence, it will not appear as an object for an experiencing agent If, on the other hand, Anitya is the nature of things, there would be no continuity of things and that every moment a new thing will appear, which is exactly the doctrine which the Budhist accepts Hence whether reals are taken as Nitya or Anitya, there would be no possibility of experiencing the object

In reply Neelakesi points out by saying 'This criticism is based upon imperfect understanding of the Jaina doctrine The criticism will be relevant only in the case of Ekāntavāda One who maintains that the reals are absolutely permanent or absolutely changing will be subject to your criticism. But, in our case, the real is always described relativistically The same person Brahma datta is younger than Devadatta and older than Yajñadatta is an intelligible proposition, the same individual is described by contra dictory adjectives Similarly, the same individual may be praised from the point of view of intellect and blamed from the point of view of moral character There is nothing impossible in a statement that a particular individual is intellectually great, though morally he is very low What we maintain as a metaphysical doctrine is th at

the reality is many sided and it is capable of being described from different points of view Hence, it is not self contradictory to describe the real as both Nitya and Anitya so long as the points of view are different."

Moghala asks "What is meant by different points of view? What is the point of view according to which the thing is permanent and what is the other point of view according to which it is impermanent?"

Neelakesi replies: "A thing is described to be permanent-Nitya when you attend to its essential nature-Anuvritta Svabhāva. A thing is changing Anitya from its accidental characteristics of Vyāvritta-Svabhāva"

Moghala objects by saying "If by essential nature, a thing is permanent and if by accidental nature, a thing is impermanent, then say, that the characteristics make the thing and do not postulate thinghood besides and beyond qualities. There is therefore nothing called substance apart from and independent of the qualities"

But Neelakesi answers to this as follows: "If you maintain that a thing cannot be separated from its qualities, you are right. But, on account of this inseparability of the thing from its qualities, if you infer the non-existence of the thing, your conclusion is untenable and erroneous. You yourself have described Buddha as having innumerable good qualities If you do not postulate an entity Buddha, apart from these qualities, your praising of your Lord will be meaningless. Because, there will be no one corresponding to Buddha Again you describe that the earth is hard, water is fluid and fire is hot etc, and this description naturally implies substance with a quality If there is no substance beyond the quality then your own statement would be without any significance It is quite easy to conceive of a thing in the midst of its qualities. In the case of an ocean, the presence of water, its coolness etc, would be Anuvritta-Svabhāva and the waves thereof will be Vyāvritta-Svabhāva. By the former, the essential characteristic, the sea must be spoken of as permanent whereas waves on its surface are ever changing. Similarly, the substance gold, may be spoken of as being permanent and various ornaments made of it

may be spoken of as changing modifications" Moghala again raises the question This leads to the next topic the relation between *Guna* and *Gunin*, the quality and substance whether they are identical or different (Bheda or Abheda) If the terms Guna and Guni refer to two different things then show me the Guni the substance apart from Guna the quality But, if you say that both refer to the same thing then say that the real is one You must either accept the first alternative or the second alternative You cannot say that both are true"

Nelakesi answers this as follows 'There is no internal contradiction in the position that Guna and Guni are different though they are inseparably present in the same real She points out that even in the Buddhist thought a similar doctrine is assumed Complex human personality, is supposed to be constituted by the five Skandas which are different and distinct in nature and yet they are inseparable from one another as constituent elements in the Purusha Pinda Similarly the four Āryasatyas Anitya Dukka Asuchi and Anātma are all associated with the same existence and yet they are spoken of as different It is possible to associate unity and plurality in the same thing even in Buddhist metaphysics A similar doctrine in Jaina metaphysics cannot be objected to Similarly, you speak of one particular Chitta, an element of consciousness, as the effect of the previous one and as the cause of the succeeding one Here also, plural characteristics are associated with a single element A doctrine which is accepted by you cannot be criticised when it proceeds from us"

Next Moghala turns to the doctrine of Avaktavya and questions The real is indescribable If you state that the real is indescribable, then you contradict yourself Because, you describe the real even while saying that it is indescribable But if by indescribability, you mean perfect silence, then there is no chance for you to state your doctrine"

Neelakesi meets this point by saying 'This criticism is based upon a misunderstanding Your criticism would be allright if the real is to be taken as absolutely indescribable But with us, it is not absolutely indescribable It has been pointed out above that from

one point of view, real can be described as eternal and from another point of view, that it can be described as ephemeral, from one point of view it is identical and that from another point of view it is different and so on. Real is thus describable by various adjectives from various points of view. From this, it is quite clear that the many-sided reality is capable of being described from various points of view. What this term Avaktavya really means is that you cannot describe the real simultaneously from an absolute point of view. If you waive the relative point of view, and attempt to describe the real from an absolute point of view, certainly the real must remain beyond your speech and hence indescribable"

The next doctrine taken up for criticism is the doctrine of Asti and Nāsti The meaning of this doctrine is, that a thing may be described positively when it is considered in relation to its own nature, its own place, its own time and its own mode. Similarly, it may be described negatively from four opposite points of view. With reference to this doctrine Moghala asks · "If by this you mean that a fruit which is in your hand is not the fruit of the bazaar, who will question this doctrine? It is so obvious that every one will accept it. Is this a great metaphysical discovery?"

Neelakesi replies: "Is it a mistake to state a doctrine which is acceptable to all? Is it your opinion that metaphysics must have nothing in common with concrete life? You also maintain several philosophical doctrines which are quite obvious to all?"

Moghala continues asking: "When you say that an elephant is not in its stable, it may be allright during the absence of the elephant. But the statement would become false when it returns to its place."

Neelakesi answers: "Yes, certainly. We do not say that the elephant is not in its place for all times. When it is absent it is not there and when it comes back, certainly it will be there The statement that it is absent will have truth not absolutely but only in relation to a specified time and place"

Moghala continues his objection "When you say that the horns of a bull were not in existence when he was a young calf, it is quite evident to every one The horns which were not in existence formerly are present now Hence, you can certainly apply Asti,

Nāsti positive and negative attributes with reference to the horns of a bull But you should prove in a similar way that the non existing horns in the calf are describable by Asti Nāsti

Neelakesi answers 'Your criticism is entirely irrelevant For, the doctrine of Asti Nāsti is applicable only to reals Nonexisting things cannot be so described

But again Moghala repeats his objection "You say from one point of view a thing may be described as existing and from another point of view that it is non existent According to your own position from one point of view a young calf or a hare or an ass must have horns What is that point of view according to which these animals are credited with horns?

Neelakesi answers "You wantonly repeat the objection already disposed of It is pointed out above that the doctrine of Asti and Nasti is not applicable to the case of non existing things

SOME COMMON ELEMENTS IN THE JAINA AND HINDU PANTHEONS—I
YAKSHAS AND YAKSHIṆIS

By

Shashi Kant Jain, M.A., B.A. (Hons.), D.R.

Yakshas and YakshinIs figure in the Jain pantheon as the deities of a minor order They are technically known as 'ŚĀSANA DEVATĀ' which may be translated as *Guardian deities* In fact, one text describes them as "जिनशासनरक्षाकारकाय", i e, *defenders of the Jaina's Order* According to Jain belief, Indra appoints one Yaksh and one Yakshinī to serve, as attendants, upon each Tirthankara Thus they are mainly attendant spirits with their mission as laid down in the following verse—

या पाति शासनं जैनं सद्यः प्रत्यूहनाशिनी ।
साभिप्रेतसमृद्ध्यर्थं भूयाच्छासनदेवता ॥

The chief object of worship in Jainism is the Tirthankara, one who is approaching salvation, who has thrown off the Karmic bondages and who is absolutely free from desire (RĀGA) There are twenty-four such Tirthankaras who are believed to be super-men, superior to gods To express the superiority of the highest divinities over all the hitherto conceived gods and goddesses, it was but natural for the Jains to relegate the latter to subordinate rank and position before the former A feeling of rivalry may be at the root of such a practice, but since the instances of religious intolerence and malicious bigotry are comparatively rare in Ancient India it would be nearer the truth if we ascribe it to a concious effort at reconciliation on their part

In this connection we should also take the psychological factor into account that 'human mind ever seeks ideals realized into forms'. The Jain laity was drawn from all sections of human society and was formed of ordinary human beings engaged in worldly pursuits They had not risen above desires and hence could not remain satisfied with dry asceticism They developed for their convenience the ritualistic aspect making it comprehensive enough to lend form

and colour to their worldly ideas of auspiciousness prosperity, wealth, kingly splendour and so on When they found that their neighbours had given them a form in the shapes of Ganesa, Lakshmi Kubera and Indra, they naturally adopted them into their pantheon with necessary modifications For such assimilation there was ample room in their conception of the attendant spirits by treating them as 'devotees of the Tirthankaras (यक्षामक्तिद्वारतीर्थंङ्ताभिमे)

In sculpture, we find the Yaksha and Yakshini re pectively on the right and left of the Tirthankara image They are mostly to be found on th- pedestal Even the detached images of Jain Yakshas and Yakshinis are to be recognised by the presence of a miniature Jina image on their top Their full representation is to be met with in th sp cim ns of the Gupta period and thereafter, the epoch which also saw the expansion and elaboration of Brahmanic pantheon

Jain texts give names, vehicles, forms and th- attributes held in the hands of these Yakshas and Yakshinis Sometimes th- texts differ with regard to names The texts of the two sects (viz the Digambara and the Svetambara) also sometim s differ respecting the attributes held in their hands One feature, however deserves to be noticed that they hold som- such obj ct as bow, arrow sword, spear, citrus, ichneumon and so on, in their hands which charac terises them as Yaksha In these de criptions we sometimes encounter a few common features with the Brahmanic gods and goddesses, which unmistakably lead to the conclusion that there must have been a great commerce between the various religious sects and cults of India in that era of myth coining which saw the issue of such a great variety of gods and goddesses that to-day we can sefely count one deity per head in India It may be noted here that the idea of compromise was not limited only to the developed cults In fact, it was even more markedly extended to the older popular cults of the Yakshas and the Nagasas is evident from the nomenclature of the Governing deities as "Yakshas and Yakshinis itself The great influence that these Yakshas and Nagas had on the masses is amply born- out by the facts that their statues ins cribed "Bhagavato have been found at many places in Northern India that to them many references are to be found in the early

Jain and Buddhist works and that in early Indian sculptural art, viz. the bas-reliefs at Sanchi, Bharhut and Bodhgaya they occupy a prominent place.

The conceptions of the Yakshas are found mixed with those of such Brahmanic gods as Brahma, Siva, Vishnu, Skanda, Indra, Varuna, Seshanaga, Yama, Kubera and such semi divine beings as the Gandharvas and the Kinnaras

The four-faced, three eyed, eight handed and lotus seated Brahma Yaksha of Sitala Natha has much in common with the god Brahma who is shown in the Brahmanic pantheon as having four faces (चतुर्मुख) and a lotus seat.

The Garuda-rider Vishnu may be connected with Garuda Yaksha of Santi Natha, riding on an elephant who may have an allusion to the mythical-bird Garuda holding an elephant in one hand and a tortoise in another.

The bull-rider Digambara Isvara Yaksha, of Sreyamsa Natha, holding a Trisula and a Danda in his hands, bears close identity with the Brahmanic god Siva, also called Isvara, who rides a bull and holds a trident and a staff Siva may also be connected with the Gomukha Yaksha of Rishabha Natha, with his vehicle of a bull, and the Bhrikuti or Nandiga Yaksha of Nemi Natha whose vehicle is also a bull.

Skanda, also called Kumara or Karttikeya, rides a peacock and has six faces The Svetambara Yakshas Shanamukha of Vimala Natha, and Yakshendra of Ara Natha, have six faces and ride a peacock.

Indra, in Hindu mythology, is represented holding a thunderbolt and an elephant Matanga Yakshas of Suparsva Natha and Mahavira ride an elephant while the Digambara Khendra of Ara Natha holds a Vajra.

Varuna Yaksha of Munisuvrata Natha bears analogous name with Varuna, the Hindu Sea-god.

Patala of Ananta Natha wearing a three-hooded snake canopy and Dharnendra or Dharnidhara of Parsva Natha adorned with a Fana-chhatra and holding Vasuki, have common features with